अंक 02 जुलाई 2023

# प्रचेतस

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की राष्ट्रीय शोध पत्रिका

ISSN.: 2581- 8074 RNI NO.: 1270
PEER REVIEWED JOURNAL

http://prachetas.in

# प्रचेतस

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की राष्ट्रीय शोध पत्रिका (Multidisciplinary)

ISSN.: 2581- 8074

RNI NO.: 1270

Peer Reviewed Journal

*'प्रचेतस पत्रिका' में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबद्ध रचनाकारों के हैं। संपादक- प्रकाशक की उनसे सहमति आवश्यक नहीं है।*
*सभी विवादों का न्याय-क्षेत्र मात्र दिल्ली होगा। सभी पदाधिकारी पूर्णरूप से अवैतनिक हैं।*

©सर्वाधिकार सुरक्षित

**संपादक मण्डल ...**

- डॉ. विवेकानन्द उपाध्याय, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
- डॉ मलखान सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र (हिन्दी), जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
- डॉ. पंकज कुमार चौधरी, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
- डॉ. गजेंद्र प्रताप सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, एस. सी. एण्ड आई. एस., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
- डॉ. शिव प्रकाश, असिस्टेंट प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र (उर्दू), जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

**परामर्श मण्डल**

- प्रो. नरेंद्र मिश्र, हिन्दी विभाग, मानविकी विद्यापीठ, IGNOU, नई दिल्ली
- प्रो. सर्वेश सिंह, हिन्दी विभाग, बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ
- डॉ लाल चंद राम, भाषा शिक्षण हिन्दी,  एनसीईआरटी, दिल्ली
- डॉ गीता नायक, हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
- डॉ ललित कुमार सिंह, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश
- डॉ. रूपेश कुमार सिंह, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
- प्रो बिपुल कुमार, हिन्दी विभाग, गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर, गुजरात

**संपादन सहयोग**

- महेंद्र सिंह, शोधार्थी, भारतीय भाषा केंद्र (हिन्दी), जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

**तकनीकी सहयोग**

- लोकेन्द्र सिंह
- राकेश कुमार

**संपर्क**

- prachetaspatrika@gmail.com
- रचना भेजने संबंधित जानकारी के लिए पत्रिका की वेबसाइट (www.prachetas.in) के ‘नियमावली’ टैब पर जाएं ...

## इस अंक में ...🗁


सम्पादक की कलम से........... ✍

1. समकालीन ओड़िया कहानी : स्त्री, दलित और आदिवासी संवेदना (डॉ. मलखान सिंह)........................3
2. वैश्वीकरण और भारतीय संस्कृति (प्रो.रसाल सिंह, डॉ. पियुष कुमार)................................................8
3. विश्वप्रपंच' की भूमिका और भारत बोध (डॉ. आलोक कुमार सिंह)................................................14
4. परफेक्शन को पाने की ललक (डॉ. धीरेंद्र कुमार)........................................................................22
5. नागार्जुन के काव्य में संवेदना के विविध स्वर (सुमित कुमार चौधरी)...............................................29
6. कुमार अंबुज की कविता और उनका आत्मसंघर्ष (यशवंत).........................................................41
7. राष्ट्रीय शिक्षा नीति और आत्मनिर्भर भारत (अमित कुमार यादव).................................................49
8. समकालीन ओड़िआ कहानी के विविध आयाम (बिश्वजीत कलता) ............................................. 55
9. अरुणाचल प्रदेश के गालो जनजाति: समाज एवं संस्कृति(उद्देश्य सिंह)...........................................66
10. कामायनी कापुनर्मूल्यांकन'की आवश्यकता (संजय साव)...........................................................77
11. कलंक (प्रवीण कुमार सहगल)..............................................................................................84
12. ईश्वर काका (निशा सहगल)...................................................................................................93
13. तितास एक नदी का नाम : समीक्षा (महेंद्र सिंह).......................................................................102
14. बचपन की सुनहरी यादों का जीवंत दस्तावेज: 'बाली उमर' (बिश्वजीत कलता)……………………106
15. गिरीश कर्नाड के नाटक 'नागमंडल' की तात्विक समीक्षा (संदीप शर्मा)………………………..…111
16. ग़म के नाम ( कुलदीप सिंह)……………………………………………………………115
17. आमिर हमज़ा की कविताएं (आमिर हमज़ा)……… ……………………………………117
18. लीलाधार मंडलोई जी से डॉ मलखान सिंह की बातचीत (डॉ. मलखान सिंह).................................... ii

## संपादक की कलम से ...✍

साहित्य समाज को उद्दात्त, मूल्यगर्भित और संवेदनशील बनाने के साथ-साथ इसकी गति और मति का निर्धारण भी करता है। इसलिए साहित्य न केवल समाज की ऊर्जा है अपितु उसकी संजीवनी भी है। साहित्य हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्य को संबोधित करता है। यथार्थ और स्वप्न के धरातल पर सत और असत-बोध के साथ जीना सिखाता है; आचार- विचार को संस्कारित और परिष्कृत करता है; विकट और भयाभय स्थितियों में निर्णय लेने की क्षमता का विकास करता है। वह उपदेश नहीं देता बल्कि आत्मबल को मजबूत और चेतना को धारदार बनाता है। वह अनंत संभावनाओं के बीज रोपित करता है, इसीलिए साहित्य हर दशा में 'मंगल भवन अमंगल हारी' होता है।

जब बाजार से साहित्यिक रचनाएं लुप्त होने लगें, उनके पाठक सिकुड़ने लगे तो यह संवेदनशील मनुष्य के निर्माण की लड़ाई के कमज़ोर पड़ने और बाजारवादी ताकत के मजबूत होने का संकेत है। ऐसे में रचनात्मक वातावरण, रचनात्मक प्रोत्साहन और रचनात्मक आलोचना के द्वारा ही  साहित्यिक जगत में बाजारावादी हमले को रोका जा सकता है।

जब सब कुछ बिकाऊ हो, मनुष्य की पहचान एक उपभोक्ता से ज्यादा न हो, मानवीय रिश्तों की मिठास कम होती जा रही हो, जीवन मनोविकारों का शिकार होता जा रहा हो तब ऐसे चुनौतीपूर्ण माहौल में साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन एक् महत्वपूर्ण रचनात्मक पहल है। इसके माध्यम से न् केवल नए-नए रचनाकारों की सृजन धार्मिता  से परिचय होगा अपितु  उनके माध्यम से वर्तमान साहित्यिक कलेवर को जानने समझने का एक अवसर भी मिलेगा। पत्रिका का यह अंक कई स्तर से विशिष्ट है क्योंकि इसमें विषय विविधता के साथ-साथ साहित्यिक स्वाद के कई फ्लेवर मिलते हैं। मुझे विश्वास है कि पत्रिका का यह अंक आपके ज्ञानवर्धन में सहायक सिद्ध होगा...

शुभकामनाओं सहित!

*डॉ. मलखान सिंह,*

*असिस्टेंट प्रोफेसर*

*भारतीय भाषा केंद्र (हिन्दी)*

*जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय*

***विशेष सूचना***

*इस पत्रिका का पहला अंक*

*संपादक के पास पुस्तकाकार*

*सुरक्षित है। संपादक से संपर्क*

*कर इसे प्राप्त किया जा सकता*

*है...*

(शोध आलेख)

# समकालीन ओड़िया कहानी : स्त्री, दलित और आदिवासी संवेदना

डॉ. मलखान सिंह

(Major research project Sponsored by ICSSR, New Delhi,)

स्वतंत्रता के बाद समाज, संस्कृति और राजनीति में बड़े बदलाव आए, जिनका सीधा असर कहानियों पर पड़ा।कहानियां अब केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि समाज की सच्चाई, संघर्ष और बदलाव की साक्षी बनने लगी। औद्योगीकरण, सामाजिक संघर्ष और बदलते जीवन मूल्यों ने कहानीकारों को गहराई से प्रभावित किया। इसी कारण कहानी  ओड़िया साहित्य की सबसे लोकप्रिय विधा बन गयी। इस दौर के लेखकों ने नए प्रयोग किए और पत्र-पत्रिकाओं ने भी इन कहानियों को आगे बढ़ाने में बड़ी भूमिका निभाई। उनकी रचनाओं में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, सामाजिक अन्याय, जीवन की जाटिलताएं, शोषण के विरुद्ध आवाज और मानवीय संवेदनाएँ प्रमुख रूप से उभरकर सामने आईं।

ओड़िआ समाजअपनी  परंपराओं से गहराई जुड़ा हुआ है। समाज में जाति व्यवस्था, पुरुष वर्चस्व और धर्मप्रधान सोच ने एक ओर जहाँ समाज को स्थिरता दी, वहीं दूसरी ओर आधुनिकता के प्रभाव ने उसकी संरचना को चुनौती दी। समकालीन ओड़िआ  कहानियों में यह संघर्ष बार-बार सामने आता है।1980 के बाद विशेष रूप से ओड़िआ  कहानी ने समाज के भीतरी अंतर्विरोधों, आर्थिक विषमता, जातिगत शोषणऔर नैतिक पतन जैसे विषयों को केंद्र में लाना आरंभ किया। परंतु इस यथार्थ में केवल कड़वा सच नहीं है, उसमें बेहतर भविष्य का सपना भी समाहित है।

स्त्री विमर्श भी बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से भारतीय साहित्य का एक केन्द्रीय स्वर बन गया। अब साहित्य केवल सौंदर्यबोध और संवेदनशीलता तक सीमित नहीं रहा, बल्कि स्त्री की अस्मिता, यौनिकता, सामाजिक शोषण, पारिवारिक बंधन, आत्मनिर्णय की आकांक्षा और प्रतिरोध की चेतना जैसे सवालों पर केंद्रित हो गया। इसका उद्भव सामाजिक सुधार आंदोलनों, शिक्षा-प्रसार, स्वतंत्रता संग्राम और नारीवादी आंदोलनों के साझा प्रभाव से हुआ।

पश्चिम में सिमोन द बोउवार और जूडिथ बटलर जैसी चिंतकों के विचारों ने स्त्री विमर्श को आकार दिया, तो भारत में महादेवी वर्मा, कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान और रमणिका गुप्ता जैसे लेखकों ने इसे भारतीय संदर्भों में गढ़ा। उड़िया साहित्य में भी यह स्वर धीरे-धीरे सशक्त होता गया, जहाँ विवाह संस्था, घरेलू हिंसा, बाल विवाह और धार्मिक रूढ़ियों पर स्त्री दृष्टि से पुनर्विचार हुआ।

हिंदी की कहानियाँ अपेक्षाकृत अधिक उग्र और आत्मस्वीकृति के स्वर में हैं, जबकि उड़िया कहानियाँ परंपरा और आंचलिकता के बीच स्त्री की आवाज़ को गूंजने देती हैं। दोनों में यह विमर्श न केवल साहित्यिक चेतना का हिस्सा है बल्कि सामाजिक परिवर्तन की दिशा में ठोस कदम भी है।

भारतीय समाज में स्त्रीजीवन को सदियों से धर्म, परंपराऔर सामाजिक मर्यादा के नाम पर नियंत्रित किया गया है। उसे सदैव 'सती', 'साध्वी', 'पवित्र' और 'देवी' के रूप में देखा गयाकिंतु उसके भीतर की स्त्री, उसकी संवेदनाएँ, उसकी इच्छाएँ, उसकी आत्मा की अनदेखी की गयी है। ऐसे संकीर्ण समाज में जब कोई स्त्री अपनी आत्मा की आवाज़ सुनती है और अपने सत्य को अभिव्यक्त करती हैतो वह विद्रोहिणी या कलंकिनी कहलाती है।'अमोक्ष' कहानी इसी स्त्री-विद्रोह, आत्मसंघर्ष और मुक्ति की कथा है। यह कहानी केवल एक नारी की व्यक्तिगत त्रासदी नहीं, बल्कि उसपुरुषवादी सामाजिक व्यवस्था की गहरी आलोचना है जो नैतिकता और धर्म के नाम पर स्त्री का शोषण करता है ।

भारतीय स्त्री के जीवन का सबसे बड़ा दुःख यह है कि वहअपनी नहीं, समाज की नजरों से जीती है। 'अमोक्ष' में हीरामणि का जीवन इसी समझौतापरस्त दुःख का प्रतीक है। "समाज के भय से अपनी पवित्र इच्छाओं का गला घोटना पाप है।" यह वाक्य कहानी की आत्मा है। हीरामणि ने अपनी हर भावना, हर इच्छा को दबाया ताकि समाज उसे 'चरित्रवान' कहे।परंतु इस दबाव में वह भीतर से टूटती गई, घुटती गई और अंततः मृत्यु के समय जब उसने यह घुटन उतारी तो समाज के झूठ उजागर हो गया। यह दुःख किसी एक स्त्री का नहीं, बल्कि हर उस स्त्री का है जो अपनी खुशी को धर्म के नाम पर त्याग देती है,अपनी देह पर दूसरों का स्वामित्व स्वीकार करती हैऔर अपनी आत्मा की आवाज़ को 'पाप' मान लेती है।

'अमोक्ष' कहानी समाज की उस दोहरी मानसिकता को सामने लाती है जो दिन के उजाले में 'धर्मात्मा' और रात के अंधेरे में 'पापी' बन जाती है। "तथाकथित संभ्रांत समाज जो दिन के उजाले में चरित्रवान होने का ढोंग करता है, वही समाज रात के अँधेरे में पाप करता है।" यह कथन केवल हीरामणि की पीड़ा नहींबल्कि लेखिका का सामाजिक उद्घोष है। कहानी दिखाती है कि समाज ने स्त्री के शरीर को नैतिकता का केंद्र बना दिया है, जबकि पुरुष की वासनाएँ 'प्रकृति' मानी जाती हैं।इस पाखंड को तोड़ने का साहस हीरामणि मरते समय दिखाती है,

वह कहती है, "सत्य बोलना पाप नहीं, बल्कि सबसे बड़ा पुण्य है।"

'अमोक्ष' का केंद्रीय विचार पाप और पुण्य की झूठी परिभाषाओं के विरोध में है। हीरामणि के जीवन में यह द्वंद्व लगातार चलता है, क्या अपनी इच्छाओं को दबाना पुण्य है? क्या आत्मा की आवाज सुनना पाप है ? मरते समय जब वह समाज की परिभाषाओं से मुक्त होकर अपने सत्य को बोलती है, तो वह वास्तव

में ‘मोक्ष’ प्राप्त करती है।वह अब किसी स्वर्ग या नरक की आकांक्षा नहीं रखती। उसके लिए सच्चा मोक्ष है, “अपने हृदय की आवाज़ सुनना और निर्भीक होकर सत्य को स्वीकार करना।” लेखिका के अनुसार, जो समाज दूसरों की आत्मा पर नियंत्रण करता है, वही पाप करता है और जो व्यक्ति अपने भीतर की आवाज़ को मानता है, वही पुण्यात्मा है।

हीरामणि जब मरते समय सच कहती है, तो यह केवल स्वीकारोक्ति नहींबल्कि प्रतिरोध का उद्घोष है। उसका यह कथन पुरुषवादी सत्ता के लिए असहनीय है, क्योंकि इससे पुरुषवादी संस्कृतिकी नींव हिल जाती है। वह अब केवल एक स्त्री नहींबल्कि स्त्री-चेतना की प्रतीक बन जाती है। इस प्रकार ‘अमोक्ष’ स्त्री की चुप्पी से आवाज बनने की यात्रा है। लेखिका यह स्पष्ट करती है कि पाप किसी व्यक्ति का नहींबल्कि व्यवस्था का होता है और जब तक समाज इस पाप को स्वीकार नहीं करता, तब तक वह ‘अमोक्ष’ की स्थिति में रहेगा, अधूरी मुक्ति, अधूरा सत्य। ‘अमोक्ष’ कहानी स्त्री की आत्म मुक्ति की कथा है। हीरामणि का सत्य उसे अपमान देता है, पर भीतर से शांति देता है। वह मरती है, किंतु मुक्त आत्मा बनकर। लेखिका की दृष्टि में, जब स्त्री अपनी पीड़ा, अपने सच और अपने निर्णय का अधिकार स्वीकार करती हैतब वह सामाजिक और आत्मिक दोनों स्तरों पर स्वतंत्र हो जाती है।

समकालीन कहानीकारों में मनोज दास का विशिष्ट स्थान है। वे मनुष्य जीवन के बृहत्तर सत्य को अपनी कहानियों में प्रकाशित करने लगे। वे नारी मन को स्पर्श करने वाले लेखक हैं। ‘हीरा’ कहानी में हीरा,‘यायावर पुत्र’ कहानी में उमा रानी, ‘समुद्र क्षुधा’ में शुभ्रा, ‘वियोगात्मक’ में सुमित्रा, ‘आरण्यक’ में मिसेज चाकूडी, ‘बिल्ली’ कहानी में महेंद्र मिश्र की माँ आदि नारी पात्रो के द्वारा स्त्री मन को अभिव्यक्त करते हैं। “देह व्यवसायी हीरा कितनी रातें कितने व्यक्तियों के साथ बिताई है, पर उसके मन को कोई छू नहीं पाया। उसके नारित्व केवल नीरवता में विलाप किया है।” इसी तरह समकालीन कथाकार अखिल मोहन पटनायक की कहानियों में भी आधुनिक नारी जीवन के विविध रूपों और स्थितियों का चित्रण मिलता है । उनकी कहानियों के महिला पात्र रीता, इंदिरा, निहारिका, मीना, माताजी, लीलावती, तनुजा, अहिल्या, सुमित्रा, प्रतिमा, रोना समकालीन नारियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका कहना है कि शिक्षाभिमानी नारी अपने पति की उपेक्षा कर प्रेमी के साथ रात बिताने का साहस रखती है। विवाहिता नारी निहारिका अपने प्रेमी रक्ष के साथ लिपटी हुई सोचती है- “और ये रविंद्र उसका पति पंखविहीन जटायु के जैसे है। जो कभी उसे समझ नहीं पाया, रक्ष आज रविंद्र नहीं है शांति के साथ जिओ, तुम्हीं मेरे सुंदर रविंद्र हो तुम ही मेरे मर्यादा हो।”

कान्हुचरण महान्ति की ‘प्राणजू’ और ‘जी हुकुम’ कहानी में जनजातियों के जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है । जलंधर देव की ‘गौरी और कान्हु’ आदिवासी भुआँ संप्रदाय की प्रतिभा और स्वाभिमान का चित्र है।

इस कहानी में भूआँ जाति की युवती गौरी, गौड़ जाति के युवक कान्हु से विवाह करती है। जिससे कान्हु को समाज से बाहर कर दिया गया। इस घटना का विरोध किया गौरी के भाई ने। वह कान्हु को साहस देता है कि जातिगत संकीर्णता से ऊपर उठने के लिए वह समाज के आगे झुके नहीं बल्कि संघर्ष करे। इस प्रकार आदिवासियों के यहाँ भी जातिगत संकीर्णता देखने को मिलती है। प्राणबंधु की कहानी 'हिंसा' में आदिवासी चरित्र के स्वाभिमान का निर्देशन हुआ है। बामाचरण मित्र की 'अपराधी' कहानी एक भिन्न प्रकार की आदिवासी कहानी है। जहाँ कहानीकार एक विचारक के रूप में आदिवासी मनुष्य के चारित्रिक विशिष्टता को रेखांकित करते हैं। बड़ी बड़ी बातों की जलेबी न बनाकर समकालीन कहानी अपने सहज और सन्तुलित रूप को प्राप्त कर रही है। साथ ही विसंगतियों से सीधा साक्षात्कार करती हुई जीवन के भोगे हुए सत्यों को ईमानदारी व साहस के साथ अभिव्यक्त कर रही है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में दलित विमर्श ने भारतीय साहित्य में एक नई दृष्टि और ऊर्जा का संचार किया। यह केवल उत्पीड़न और सामाजिक परिवर्तन का दस्तावेज नहीं रहा, बल्कि प्रतिरोध और आत्माभिव्यक्ति की उपजाऊ जमीन बन गया। हिंदी और उड़िया दोनों भाषाओं में दलित चेतना का उभार साहित्यिक विकास का संकेत होने के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति का प्रमाण भी है।

हिंदी में यह एक आंदोलन की तरह फूटा, जिसमें प्रतिरोध की तीव्रता और व्यवस्था को चुनौती देने का साहस स्पष्ट दिखा। उड़िया साहित्य में यह एक सांस्कृतिक पुनर्पाठ के रूप में आया, जहाँ लेखकों ने दलित जीवन की त्रासदियों, संघर्षों और आकांक्षाओं को संवेदनशीलता से स्वर दिया। शैली, भाषा और दृष्टिकोण में भिन्नता के बावजूद, दोनों ही भाषाओं में यह विमर्श हमारे समय के सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ को समझने के लिए अनिवार्य है।

इसप्रकार ओड़िया कहानी हासिए में जी रहे लोगों की न केवल आवाज बनती है अपितु अस्मिता के लिए संघर्ष की चेतना भी जगाती है । जिसमें स्त्री, दलित, आदिवासी और किसान जीवन की संघर्षपूर्ण स्थितियों का यथार्थ चित्रण मिलता है तथा उनकी आशाओं -आकांक्षाओं की सहज अभिव्यक्ति मिलती है ।

संदर्भ :

1- राय प्रतिभा ,अमोक्ष ,भारतीय ज्ञान पीठ 2021, पृष्ठ- 130

2-वही

3- राय प्रतिभा,अमोक्ष ,भारतीय ज्ञान पीठ 2021,पृष्ठ- 131

4-वही
5- प्रो.वैष्णव चरण सामल- ओड़िआ गल्प; उन्मेष ओ उत्तरण, पृष्ठ-287
6- अखिल मोहन पट्नायक- पौष की एक रात, पृष्ठ-7

डॉ मलखान सिंह
अस्सिस्टेंट प्रोफेसर ,भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली
मो-9990765648

(Major research project Sponsored by ICSSR, New Delhi,
File No- 02/121/GN/2021-22/ICSSR/RP/MJ)

(शोध आलेख)

# वैश्वीकरण और भारतीय संस्कृति

प्रो. रसाल सिंह

डॉ पीयूष कुमार

किसी भी देश के विकास में उसकी अर्थव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। किसी भी राष्ट्र का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक विकास सुदृढ़ अर्थव्यवस्था के आधार पर विनिर्मित होता है। इसीलिए प्रत्येक देश समय-समय पर विभिन्न आर्थिक नीतियों को लागू करते रहते हैं और समय-समय पर उनमें उचित संशोधन भी करते रहते हैं। वैश्वीकरण का संदर्भ इसी अर्थतंत्र से ही जुड़ा है। इसे भूमंडलीकरण (ग्लोबलाइजेशन) भी कहा गया। वैश्वीकरण के विभिन्न सोपानों पर प्रकाश डालने से पूर्व भूमंडलीकरण को लेकर विभिन्न विद्वानों के मतों को जान लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है। प्रसिद्ध चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा ने वैश्वीकरण को पूंजीवाद के प्रसार के रूप में देखा है। उनका मानना है कि – "वैश्वीकरण का अभियान पूँजीवाद को राष्ट्रीय दायरों से परे ले जाने की अभिलाषा की अभिव्यक्ति है।"(1) जाने-माने अर्थशास्त्री कमल नयन काबरा भूमंडलीकरण को केवल आर्थिक घटना नहीं मानते। वे इसके तमाम नकारात्मक पक्षों को भी खुलकर उद्घाटित करते हैं। वे लिखते हैं कि – "भूमण्डलीकरण महज आर्थिक प्रवृत्ति या घटना नहीं है। इसके कई रूप हैं, जो आपस में जुड़े हुए हैं।.... भूमण्डलीकरण का कार्यक्षेत्र तकनीक, निवेश और निर्माण तक सीमित नहीं है, अपितु युद्ध, आक्रमण, नरसंहार और विनाश आदि आयामों तक फैला हुआ है।"(2)

इसके अतिरिक्त भी प्रभृति विद्वानों ने भी भूमंडलीकरण को अपने-अपने ढंग से समझने-समझाने का प्रयास किया है। इसी दिशा में राकेश कुमार ने भी भूमंडलीकरण के छद्म को बेनकाब किया है। वे इसकी ग्लोबल-गाँव विरुद्ध प्रवृत्ति की ओर इशारा करते हुए कहते हैं कि – "यह भूमंडलीकरण दुनिया का एकीकरण नहीं है, अपितु टेक्नोलॉजी द्वारा उसे बाँधने, साधने, नियंत्रित करने तथा उन पर अपना वर्चस्व स्थापित करने, मुक्त व्यापार करने, अधिकाधिक मुनाफ़े कमाने का विस्तारवादी, सत्तावर्चश्ववादी, एकाधिकारवादी पूँजी और व्यापार का भूमंडलीकरण है।"(3) राकेश कुमार की परिभाषा वैश्वीकरण विषयक कई प्रकार की भ्रांतियों को दूर कर देती है। प्रसिद्ध स्त्रीवादी लेखिका प्रभा खेतान ने भी भूमंडलीकरण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनकी परिभाषा कुछ संतुलित और सैद्धांतिक जान पड़ती है। उनका कहना है कि – "भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है जो वित्त-पूंजी के निवेश, उत्पादन और बाजार द्वारा राष्ट्रीय सीमा में ही वर्चस्वी नहीं, बल्कि राष्ट्रीय सीमा से परे भूमंडलीय आधार पर निरंतर अपना प्रसार करना चाहती है।"(4)

अतएव उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है को वैश्विक स्तर पर व्यापार एवं वाणिज्य की परिव्याप्ति कर पूँजी की महत्ता को प्रतिपादित करती है।

विद्वानों द्वारा अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से वैश्वीकरण को कई चरणों में व्याख्यायित करने का यत्न किया गया है। वैश्वीकरण का प्रथम चरण उन्नीसवीं सदी के मध्य से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध अर्थात् 1850-1914 ई. तक माना जाता है। औद्योगीकरण इस बीच फलता-फूलता है। इसी समय ब्रिटिश हुकूमत ने तमाम देशों में अपना उपनिवेश स्थापित किया। लेकिन अमेरिकी राष्ट्रपति विलियम मैक्निले की वैश्वीकरण की नीति के चलते ब्रिटिश उपनिवेशवाद को झटका लगा। ब्रिटिश के एकछत्र राज्य को अमेरिका से चुनौती मिली और उन्नीसवीं सदी के अंत तक ब्रिटिश का स्थान अमेरिका ने ले लिया। अमेरिका ने इस बीच काफ़ी उन्नति की। कई अविष्कार किये। परिवहन, यातायात, भाप इंजन, जहाजरानी, स्वेज और पनामा नहरों के निर्माण आदि ने अमेरिकी प्रगति को बल प्रदान किया। "आवागमन, परिवहन और संचार के इन समुन्नत साधनों ने दुनिया के देशों के बीच भौगोलिक दूरियों को समाप्तप्राय कर भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को तेज कर दिया।"[(5)] वैश्वीकरण का दूसरा चरण प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से लेकर बीसवीं सदी के मध्य अर्थात 1914-1950 तक माना जाता है। इस बीच तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ लेकिन विश्वयुद्ध के चलते देशों के बीच बढ़ती दूरी और वैमनस्यता ने भूमंडलीकरण की गति को अपेक्षाकृत धीमा कर दिया। फिर भी इस दरम्यान सांस्कृतिक और शैक्षिक प्रगति ख़ूब हुई। कई अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना हुई। संग्रहालय, ग्रंथालय आदि खुले। अमेरिका में ही सैकड़ों अंतरराष्ट्रीय गोष्ठियाँ और परिसंवाद आयोजित हुए। भारत की आज़ादी तक तकरीबन सौ से भी अधिक देश अंतरराष्ट्रीय उड्डयन व्यवस्था से जुड़ गए थे। अमेरिका ने परमाणु परीक्षण किया और अपनी सैन्य व्यवस्था को काफ़ी सुदृढ़ किया। इसी बीच कम्प्यूटर के आविष्कार ने भी क्रांति मचा दी। वैश्वीकरण की गति को एक और महत्त्वपूर्ण कार्य ने बढ़ा दिया और वह था विश्व बैंक का गठन। विश्वयुद्धों से ध्वस्त हुई ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और जापान आदि देशों की अर्थव्यवस्था को लेकर अमेरिका संजीदा हुआ। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक से जहाँ एक ओर उसने ऋण प्रदान किया वहीं दूसरी ओर अपने उत्पादों की बिक्री भी करने लगा। फलतः अमेरिका शक्तिशाली होता गया।

सन् 1951 से लेकर 1990 तक के कालखंड को वैश्वीकरण के तीसरे चरण के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस समयावधि में शीतयुद्ध, बर्लिन की दीवार का गिरना और सोवियत रूस का विघटन होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका वैश्विक पटल पर दो महाशक्तियाँ उदित हुईं और इन्हीं के बीच भूमि-बँटवारे को लेकर 1945 से 1991 तक शीतयुद्ध चलता रहा। सोवियत संघ अपनी सीमा से लगे पोलैंड पर अधिकार चाहता था जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका इसके लिए राजी नहीं

था। एक ओर अमेरिका की पूंजीवादी और दूसरी ओर रूस की साम्यवादी विचारधारा भी मेल नहीं खा पा रही थी। कालांतर में 9 नवंबर 1989 को बर्लिन की दीवार ढहने को प्रतीकात्मक रूप में शीतयुद्ध का अंत मान लिया गया। इसी के साथ ही अमेरिका की व्यावसायिक विस्तारवादी, पूँजीवाद और वैश्वीकरण की नीति के चलते जहाँ एक ओर अमेरिका का वर्चस्व बढ़ता गया वहीं दूसरी ओर वैश्वीकरण की प्रक्रिया को भी पंख लग गए। सोवियत रूस के विघटन के बाद अमेरिकी-यूरो पूँजीवाद को बेतहाशा छूट मिल गयी। कहना न होगा कि इन्हीं परिस्थितियों ने वैश्वीकरण की प्रक्रिया को भी धार दिया। 1990 से लेकर अब तक के समय को वैश्वीकरण के चौथे चरण के रूप में जाना-समझा जाता है। भारत इसी चौथे चरण में वैश्वीकरण से सीधे तौर पर जुड़ता है। यहाँ तक आते-आते अमेरिकी-यूरो के नीयत की कलई खुल जाती है और वैश्वीकरण, अमेरिकीकरण के पर्याय के रूप में उभरकर सामने आता है। अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक समझौतों, नियमों-क़ानूनों और नीति-निर्धारण के लिए जनवरी 1995 में 'विश्व व्यापार संगठन' (डब्लूटीओ) अस्तित्ववान हुआ। इसके माध्यम से वैश्विक पटल पर व्यापार व वाणिज्य के क्षेत्र में अमेरिका का एकछत्र राज्य हो गया। वैश्वीकरण की नीति को लागू करने वाले देशों को अमेरिका कहे कि अमुक नीति लागू करो तो वे करेंगे और कहे कि अमुक नीति को न लागू करो तो वे कदापि नहीं करेंगे। उदारीकरण के कारण अमेरिकी डॉलर मजबूत होता गया और इस नीति को अपनाने वाले विकासशील देशों की मुद्रा का अवमूल्यन होता गया। इसी के चलते मैक्सिको, ब्राज़ील, मलेशिया, दक्षिणी कोरिया, इंडोनेशिया, थाईलैंड और फिलीपींस जैसे न जाने कितने देशों की अर्थव्यवस्था चरमरा गयी है। जो देश अमेरिकी वर्चस्व को नकारते हैं, उन्हें वह आतंकी करार देता है। चीन, जापान और कोरिया की उभरती हुई अर्थव्यवस्था उसे चुभ रही है। इराक द्वारा अमेरिका और डॉलर को नजरअंदाज करके यूरो अपनाने पर वह पूँजीवादी-साम्राज्यवादी अमेरिका के निशाने पर आ गया। अब जहाँ तक बात भारतीय संदर्भ में उदारीकरण के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की है तो वह निर्विवाद रूप से '90 के बाद मानी जाती है। सर्वसम्मति से 1991 में रहे भारत के प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव को उदारीकरण के जनक माना जाता है। उन्होंने तत्कालीन वित्तमंत्री मनमोहन सिंह के साथ आर्थिक क्षेत्र में उदारीकरण की नीति अपनाकर वैश्वीकरण के लिए दरवाज़े खोल दिए।

भारतीय संस्कृति भी वैश्वीकरण के प्रभाव से अछूती नहीं रही है। या यह कहें कि संस्कृति ही सर्वाधिक प्रभावित और परिवर्तित हुई है तो संभवतः अत्युक्ति न होगी। भारतभूमि पर प्रारम्भ से ही विभिन्न जातियों, विभिन्न धर्मों और विभिन्न समुदायों का आगमन होता रहा है और इन जातियों, धर्मों और समुदायों की संस्कृति से भारतीय संस्कृति की टकराहट होती रही है। कभी-कभी तो इस टकराहट ने बड़े-बड़े आन्दोलनों को भी जन्म दिया है। जैसा पूर्व में भी उल्लेख किया जा चुका है कि उदारीकरण के द्वार से वैश्वीकरण भारत में प्रवेश करता है। उदारीकरण के कारण कहीं-न-कहीं निजीकरण और पूँजीवाद को

अतिशय बढ़ावा मिला। फलतः बाज़ारवादी व्यवस्था अस्तित्ववान हुई और बाज़ारवादी व्यवस्था की कोख से उपभोक्तावादी संस्कृति ने जन्म लिया। इस बाज़ारवादी व्यवस्था ने लगभग सभी वर्गों तक अपनी पैठ बनाई है और भोगवादी संस्कृति को जन्म दिया है। पढ़े-लिखे मध्यवर्ग, संभ्रांत वर्ग और बौद्धिक वर्ग को इसने सर्वाधिक शिकार बनाया है। वस्तुतः प्रत्येक देश को अपनी सभ्यता, रहन-सहन, खानपान, इतिहासबोध, मूल्य, नैतिकताओं, परम्पराओं, देशप्रेम और अतीत की गौरवशाली महान विभूतियों के प्रति आदर और स्वाभिमान का भाव होता है। कहना न होगा कि भारत इस मामले में सबसे अग्रणी रहा है। लेकिन बीते दिनों वैश्वीकरण का एक नया षड्यंत्र सामने आया है। यह अमेरिकी नव उपनिवेशवाद एकध्रुवीय और महाशक्तिशाली बने रहने की धुन में इतना मदमाती हो गया है कि 'विचारधारा का अंत', 'इतिहास का अंत' और 'ईश्वर का अंत' जैसी घोषणाओं की साजिश करके तीसरी दुनिया (विशेषकर भारत) की गौरवशाली संस्कृति का ख़ात्मा करने की मंशा रखता है। उपभोक्तावादी संस्कृति की इस साजिश का शिकार होकर मध्य और बौद्धिक वर्ग अपने देश की परम्परा, संस्कृति, इतिहास, संस्कार और सभ्यता को दरकिनार कर उपभोक्तावाद द्वारा परोसी गयी भोगवादी संस्कृति को अपना रहा है। इसके कारण वह अपनी परम्पराओं से न तो जुड़ पाता है और न ही लाभान्वित हो पाता है। जब उसने 'परम्परा का अंत', 'इतिहास का अंत' मान ही लिया तो कहाँ रही परम्परा और कहाँ रहा इतिहास? इस प्रकार यह मध्य और बौद्धिक वर्ग यूरो-अमेरिका द्वारा प्रचारित-प्रसारित की जाने वाली तथाकथित 'नई' बातों को वास्तव में 'नई' मान लेने की भूल कर बैठता है। अब रहना तो उसे भारत में है लेकिन वह संचालित हो रहा है उपभोक्तावादी संस्कृति से। फलतः उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व पनपने लगता है। एक संस्कृति को न तो वह पूर्णतः छोड़ पाता है और न ही दूसरी संस्कृति को पूर्णतः अपना ही पाता है। सैद्धांतिक स्तर पर भले वह भारतीय मूल्यों, मान्यताओं को थोड़ा-बहुत स्वीकार करता हो (क्योंकि पुराने संस्कार इतनी आसानी से जाते नहीं) लेकिन व्यवहार रूप में उसकी परिणति नहीं दिखती। और इस प्रकार वह खण्डित व्यक्तित्व और अन्तर्द्वंद्वों से भरा जीवन जीने के लिए अभिशप्त हो जाता है।

ध्यातव्य है कि भारतीय संस्कृति और उपभोक्तावादी संस्कृति के सम्मिलन से एक प्रकार का सांस्कृतिक कचरा उत्पन्न हुआ है, जिसे 'अपसंस्कृति' की संज्ञा से अभिधीत किया गया है। यह अपसंस्कृति न केवल समाज अपितु राज्य के लिए भी खतरनाक है। कारण यह कि इसने समाज और राज्य के अन्तर्सम्बन्धों को भी क्षीण कर दिया है। इससे जनता और सत्ता के बीच दूरियाँ बढ़ी हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति ने मीडिया के प्रभुत्व को बढ़ा दिया है। चूँकि यह उपभोक्तावादी संस्कृति विज्ञापनतंत्र से ही फलती-फूलती है इसलिए इसने मीडिया को अपना माध्यम बनाया है। न केवल प्रिन्ट, इलेक्ट्रॉनिक अपितु सोशल मीडिया को भी इसने प्रचार-प्रसार का साधन बना लिया है। आज का मीडिया सत्ता की तूती बोलता हुआ

प्रतीत हो रहा है। उसे जनता और सत्ता के बीच माध्यम बनना था। जनता की बात सत्ता तक और सत्ता की बात जनता तक पहुँचाना था, लेकिन आज वह केवल सत्ता की ही सुना रहा है। उसने जनता की सुनना बंद कर दिया है और सत्ता की बोलना शुरू कर दिया है। उदारीकरण के बाद अंतरराष्ट्रीय बहु कंपनियों को अपने उत्पाद के विज्ञापन के लिए मीडिया की ज़रूरत थी। इसीलिए तमाम चैनल्स का सोता बह निकला, जो इस उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ाने में सहायक हुआ। मीडिया के इस चरित्र पर कवि-आलोचक राजेश जोशी ने इन शब्दों के माध्यम से कटाक्ष किया है – "हिंदी की बात करें तो हिंदी का प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया साहित्य और संस्कृति के प्रति सबसे ज़्यादा दोगला है। जब तक अन्य चैनल नहीं आये थे, दूरदर्शन के पास साहित्य और संस्कृति के लिए थोड़ा समय था।..... लेकिन हिंदी के अन्य चैनलों के पास ऐसी कोई समझ या उत्सुकता नज़र नहीं आती। सच तो यह है कि उनकी व्यावसायिकता उन्हें इजाजत नहीं देती।"[(6)] यह उपभोक्तावादी संस्कृति पूर्व प्रचलित संस्कृति को प्रतिस्थापित कर उत्पादों के ब्रांड की संस्कृति को प्रतिष्ठित करती है। इसी को प्रभा खेतान ने अपनी पुस्तक 'भूमंडलीकरण : ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र' में 'ब्रांड संस्कृति' कहा है।

समकालीन भारतीय साहित्य में अस्मितावादी विमर्शों के उदय में कहीं-न-कहीं वैश्वीकरण का ही प्रदेय रहा है। बाज़ारवाद ने 'मुख्यधारा' जैसी काल्पनिक और आत्ममुग्ध धारा को जन्म दिया, जिससे गरीब, आदिवासी, स्त्री, दलित, ग्रामीण और अन्य तमाम जनजातियाँ जुड़ नहीं पायीं। बाजार ने इन हाशिये के लोगों की आर्थिक स्थिति सुधारी, जिससे इनमें अपनी अस्मिता और अस्तित्व को लेकर चेतना जागृत हुई। जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। "यह सच है कि भूमण्डलीकरण ने आर्थिक उदारवाद को बढ़ावा देकर आर्थिक गैर-बराबरी, जातिगत भेदों, पितृसत्ता एवं रूढ़िवाद को बढ़ावा देने में अपनी भूमिका अदा की है वहीं उसके अंदर इन प्रवृत्तियों को कुछ सीमा तक रोकने की भी क्षमता है, जरूरत उसे सही दिशा देने की है।"[(7)]

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारत में वैश्वीकरण, उदारीकरण के द्वार से प्रवेश करता है। उदारीकरण की अवधारणा को वैश्वीकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जाना-समझा जा सकता है। वैश्विक गतिविधियों का सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव भारतीय समाज पर भी पड़ता रहा है। इस वैश्वीकरण ने जहाँ एक ओर आर्थिक स्तर को सुधारा है, कंपनियों की 'मोनोपोली' समाप्त की है, रोज़गार के अवसर प्रदान किये हैं, उद्योग-धंधों के द्वार सभी के लिए खोल दिए हैं, जीवनस्तर को सुधार दिया है, सुख-सुविधाओं में वृद्धि करके जीवन को आसान बनाया है और वैज्ञानिक व तार्किक सोच को बढ़ावा दिया है तो वहीं दूसरी ओर अपसंस्कृति, पारिवारिक विघटन, पर्यावरण-असंतुलन, मूल्यहीनता,

संवेदनशून्यता, पूँजी का अतिशय महत्त्व, हाशियाकरण, लूट और हिंसा आदि को भी प्रश्रय दिया है। तथापि वैश्वीकरण का श्याम पक्ष, उसके श्वेत पक्ष की उज्ज्वलता की तुलना में ज़्यादा स्याह है।

## संदर्भ:-


1. सिंह, सच्चिदानंद. (2016). भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. सं. 9
2. काबरा, कमल नयन.(2018). भूमण्डलीकरण के भँवर में भारत. नयी दिल्ली : प्रकाशन संस्थान. पृ. सं. 46
3. कुमार, राकेश.(2014). उत्तर उपनिवेशवाद : चुनौतियाँ और विकल्प. दिल्ली : शुभदा प्रकाशन. पृ. सं. 14
4. खेतान, प्रभा.(2014). भूमंडलीकरण : ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र. नई दिल्ली : सामयिक प्रकाशन. पृ. सं. 15
5. सिंह, पुष्पपाल.(2015). भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. सं. 24
6. उपाध्याय, रमेश व उपाध्याय, संज्ञा.(सं.).(2010). बाजारवाद और नयी सृजनशीलता. नयी दिल्ली : शब्द संधान प्रकाशन. पृ. सं. 29
7. अग्रवाल, नीरू. (सं.). (2017). भूमण्डलीकरण और हिंदी उपन्यास. दिल्ली : अनन्य प्रकाशन. पृ. सं. 80


…

(शोध आलेख)

# ‘विश्वप्रपंच’ की भूमिका और भारत बोध

डॉ. आलोक कुमार सिंह

## शोध आलेख का सार

औपनिवेशिक हितों से प्रेरित साम्राज्यवादी सांस्कृतिक दुष्प्रचार की चुनौतियों और अपने समाज की आतंरिक दुर्बलताओं से भारतेंदु युग में पनपी 'स्वत्व-चिंता' द्विवेदी युग तक आकर जातीय अस्मिता के पुनरान्वेषण, युगानुकूल संशोधन एवं पुनर्प्रतिष्ठा के महाउद्यम में परिणत हो जाती है। इस प्रक्रिया में उद्यमरत हिन्दी बौद्धिकों के प्रयत्न भारत बोध के सम्यक निर्धारण के सुचिंतित प्रयत्न हैं। वैचारिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में अनुवाद उस दौर में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसी पृष्ठभूमि में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा अनूदित 'विश्वप्रपंच' को देखा जा सकता है। इसकी सुदीर्घ भूमिका में विवेचित भारतीय ज्ञान परम्परा के वैज्ञानिक-दार्शनिक-सांस्कृतिक तत्त्वों से प्रक्षेपित भारत बोध और उन तत्त्वों की प्रस्तुति या विषय-प्रतिपादन में क्रियाशील आचार्य शुक्ल की विचारदृष्टि से उनके सुचिंतित भारत बोध का परिचय मिलता है। इसके निर्धारक तत्त्व हैं साम्राज्यवाद का विरोध, जातीय परम्परा के प्रति स्वाभिमान, युगानुकूल संशोधन, वैज्ञानिक चेतना का प्रसार और सांस्कृतिक गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा। 'विश्वप्रपंच' का अनुवाद जातीय भाषा की सृजनात्मकता को भी प्रमाणित करने का प्रयत्न है। शुक्लजी अपनी जातीय परम्परा के प्रति अंधभक्त नहीं हैं, बल्कि कई उदाहरणों में विज्ञानसम्मत विवेकदृष्टि से वे उसकी आलोचना करते हैं। पुनरान्वेषण और 'निर्माण' के इस प्रयत्न की कुछ सीमाएँ भी हैं। ये सीमाएँ वस्तुतः युग-संक्रमण की प्रक्रिया में उत्पन्न मूल्य-संक्रमण का ऐतिहासिक साक्ष्य हैं। निश्चय ही, 'विश्वप्रपंच' की इस भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व है।

## 'विश्वप्रपंच' की भूमिका और भारत बोध

हिंदी साहित्य के इतिहास का विहगावलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक सांस्कृतिक दुष्प्रचार के प्रतिकार एवं जातीय परम्परा के युगानुकूल संशोधन हेतु भारतेंदु युग में पनपी 'स्वत्व-चिंता' द्विवेदी युग तक आकर जातीय अस्मिता के निर्माण के महाउद्यम में परिणत हो जाती है। निर्माण के इस महाउद्यम के कई मोर्चे थे और हिंदी के बौद्धिक विद्वान अपने-अपने ढंग से इसमें योग कर रहे थे। 'स्वत्व-चिंता' से प्रेरित हिंदी बौद्धिकों के प्रयत्न भारत बोध के ही निर्धारण के प्रयत्न कहे जा सकते हैं। निश्चय ही, अनुवाद एक साधन के रूप में इस पूरी प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था।[1] तेजस्विनी निरंजना ने

बताया है कि किस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों, प्रशासकों और मिशनरियों ने औपनिवेशिक काल में साम्राज्यवादी उद्देश्यों से भारतीय साहित्य का अनुवाद किया था। उनका सुझाव है कि उत्तर-औपनिवेशिक समाजों को अब अनुवाद का उपयोग प्रतिरोध और रूपांतरण के लिए करना चाहिए।[2] द्विवेदी युगीन हिंदी बौद्धिकों के अनुवाद-प्रयत्नों में हम वस्तुतः यही प्रवृत्ति पाते हैं। इस पृष्ठभूमि में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा अनूदित ग्रंथ 'विश्वप्रपंच' की भूमिका में निहित भारत बोध की पड़ताल की जा सकती है।

भारतेंदु युगीन आदर्श रामचंद्र शुक्ल को आकर्षित करते हैं। उन्होंने अपने साहित्येतिहास में लिखा है *"विदेशी अंधड़ों ने उनकी आंखों में उतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूपरंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता।... प्राचीन और नवीन के संधिस्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्धित रूप प्रतीत हो न कि ऊपर लपेटी हुई वस्तु।"*3 भारतेंदु ने अपने प्रसिद्ध 'बलिया व्याख्यान' ('भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है') में ब्रिटिश शासन की मनमानी पर व्यंग करने के साथ-साथ भारतीय समाज की रुढ़ियों और दोषपूर्ण जीवनशैली को भी उद्घाटित किया था। फलतः 'देशोपकार' की भावना से प्रेरित युवा रामचंद्र शुक्ल ने जानबूझकर तत्कालीन शासकों की भाषा अंग्रेजी में 'व्हाट हैज इंडिया टू डू' ('भारत को क्या करना चाहिए') नामक लेख लिखकर आह्वान किया- *"दरअसल हमें समाज सुधारक, राजनीतिक आंदोलनकर्ता, कवि और शिक्षाविद इन सबकी एक ही साथ, एक ही समय में जरूरत है।"*4 इस लेख में सामाजिक कुप्रथाओं को दूर करने तथा राजनीतिक शिक्षा, उद्योग एवं तकनीकी शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्होंने निर्भीक स्वर में कहा कि 'साम्राज्यवाद ही भारत में ब्रिटिश राष्ट्र की नीति की प्रेरक शक्ति रहा है।' इस लेख के अंत में स्वदेशी आंदोलन का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं- 'मेरे देशवासियों, जो इलाज आपने खोजा है, वही एकमात्र इलाज है, उसे दृढ़ता से पकड़े रहिए। इस प्रकार रामचंद्र शुक्ल का भारत बोध युवावस्था में ही रूपाकार ग्रहण करता प्रतीत होता है। इसके प्रेरक तत्त्व हैं साम्राज्यवाद का विरोध, जातीय परम्परा के प्रति स्वाभिमान और इसका युगानुकूल संशोधन, वैज्ञानिक चेतना का प्रसार और सांस्कृतिक गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा। भाषा, साहित्य, इतिहास, पुरातत्व, धर्म-दर्शन-विज्ञान आदि से संबंधित उनकी समस्त मौलिक एवं अनूदित कृतियां इसी सुचिंतित भारत बोध की प्रस्तुति और प्रसार-आग्रह की परिचायक हैं।

जर्मनी के विख्यात जीव विज्ञानी अर्न्स्ट हैकल की पुस्तक का जोसेफ मैककैब द्वारा अंग्रेजी में 'द रिडल ऑफ द यूनिवर्स ऐट द क्लोज ऑफ द नाइनटिंथ सेंचुरी' शीर्षक से 1900 ई. में अनुवाद किया गया था। हैकल की इस कृति में विज्ञान बनाम धर्म-दर्शन-अध्यात्म के द्वंद के विभिन्न पहलुओं की प्रस्तुति के साथ-साथ सृष्टि और जीवन संबंधी विभिन्न धार्मिक-आध्यात्मिक अटकलबाजियों को विकासवाद के सिद्धांत द्वारा खंडन किया गया था। शुक्लजी 'विश्वप्रपंच' के वक्तव्य में लिखते हैं- *"जिस समय यह ग्रंथ प्रकाशित*

*हुआ यूरोप में इसकी धूम सी मच गई।....इस पुस्तक ने सबसे अधिक खलबली पादरियों के बीच डाली जिनकी गालियों से भरी हुई सैकड़ों पुस्तकें इसके प्रतिवाद में निकलीं।"* 5 शुक्लजी द्वारा अनुवाद हेतु इस कृति के चयन का एक कारण यह तो है ही, कृति के चयन का अन्य कारण भी महत्वपूर्ण है। हैकल ने विभिन्न संस्कृतियों-परंपराओं की तुलना के क्रम में भारतीय परम्परा की विरासत को सकारात्मक रूप में प्रस्तुत किया था। अतः एक पाश्चात्य विद्वान द्वारा ही तर्क और तथ्य आधारित ढंग से पश्चिमी श्रेष्ठता को चुनौती दिया जाना शुक्लजी को अपने उद्देश्यों के अनुरूप लगा और उन्होंने हैकल की इस कृति का हिंदी में 1920 ई.में अनुवाद किया।

शुक्लजी ने अनूदित कृति का शीर्षक 'विश्वप्रपंच' रखा है। वस्तुतः उन्होंने शीर्षक के शाब्दिक अनुवाद की जगह मूल कृति में उद्घाटित धार्मिक वितंडावाद की छलनाओं को अपने शीर्षक का आधार बनाया है। इस प्रकार 'विश्वप्रपंच' शीर्षक हिंदी नवजागरण की भ्रांतिभंजक प्रवृत्ति के साथ-साथ आचार्य शुक्ल के उद्देश्य और लक्ष्य दोनों को स्पष्ट कर देता है। उल्लेखनीय है कि 'विश्वप्रपंच' के मूल संस्करण (सं. 1977, नागरीप्रचारिणी सभा) का अनूदित अंश 152 पृष्ठों का है जबकि शुक्लजी की अपनी भूमिका 155 पृष्ठों की है। यह विद्वतापूर्ण भूमिका हैकल के बाद तक की वैज्ञानिक प्रगति का लेखा-जोखा तथा इन सबका भारतीय ज्ञान परम्परा से साम्य-वैषम्य प्रस्तुत करती है। इसके महत्व पर सर्वप्रथम डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' के द्वितीय संस्करण (1959 ई.) की भूमिका में विचार किया है। डॉ. मैनेजर पांडे ने लिखा है- *"डॉ रामविलास शर्मा ने जैसे महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'संपत्तिशास्त्र' को नया जीवन दिया उसी तरह रामचंद्र शुक्ल के 'विश्वप्रपंच' को भी।"* 6

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी भूमिका में आधुनिक भौतिकशास्त्र, जीवशास्त्र, विकासवाद, भौतिकवाद और भाववाद या अध्यात्मवाद के पक्षों के विभिन्न तर्कों का उल्लेख किया है। प्रसंगानुसार रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि अन्य विज्ञानों का भी जिक्र आया है। उनकी इस भूमिका में संसार के प्रति मानव के दार्शनिक दृष्टिकोण का हल विज्ञान के अध्ययन द्वारा प्रस्तावित किया गया है। उन्होंने उन्होंने 19वीं सदी में वैज्ञानिक प्रगति के साथ मनुष्य के संसार संबंधी प्राचीन विचारों में बदलाव को लक्ष्य किया है- *"जहाँ पहले लोग छोटी से छोटी बात के कारण को न पाकर उसे ईश्वर की कृति मान संतोष कर लेते थे वहाँ चारों और नाना विज्ञानों के द्वारा कार्य कारण की ऐसी विस्तृत श्रृंखला उपस्थित कर दी गई कि किसी को बीच ही में ठिठकने की आवश्यकता न रह गई। ज्ञानदृष्टि को बहुत दूर तक बढ़ाने के लिए मार्ग खुल गया।"*7 धार्मिक विश्वासों के अनुसार हर परम्परा के लोग समझते थे कि जीवो की योनियाँ ईश्वर की रची हुई हैं और ऐसा सृष्टि के आरंभ से चला आ रहा है। शुक्लजी बताते हैं कि "*इस विकासवाद से बड़ी खलबली मची। इसकी बात जनसाधारण के विश्वास और धर्मपुस्तकों की पौराणिक सृष्टि-कथा के विरुद्ध थी। हमारे यहाँ भी पुराणों*

*में योनियों स्थिर कही गई हैं और उनकी संख्या भी चौरासी लाख बता दी गई है। गरुडपुराण में तो प्रत्येक वर्ग की योनियों की गिनती तक है। डारविन ने यह अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया कि एक जाति के जीवों से ही क्रमशः दूसरी जाति के जीवों की उत्पत्ति हुई है।"*8 गौरतलब है कि ये पौराणिक अंधविश्वास या रुढ़ियां पश्चिम को ही नहीं, बल्कि भारतीय समाज को भी जकड़ी हुई थीं जिस पर शुक्लजी चोट करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि 'विश्वप्रपंच' के प्रकाशन की एक सदी बीत जाने के बाद भी आज का हिंदी या भारतीय समाज कितना रुढिमुक्त या अंधविश्वासमुक्त हो सका है।

'विश्वप्रपंच' की भूमिका में विकासवाद के प्रसंग में शुक्लजी लिखते हैं- "*विकास नियम की चरितार्थता पहले सजीव सृष्टि (जंतु और वनस्पति) में ही दिखाई गई। फिर वैज्ञानिकों ने उसे लेकर संपूर्ण जगत विधान पर घटाया और नाना रूपों के पदार्थों को एक ही मूल रूप के द्रव्य से उत्तरोत्तर उत्पन्न सिद्ध किया। इस प्रकार विकास एक विश्वव्यापक नियम माना जाता है। नाना मतों और संप्रदायों की पौराणिक सृष्टि कथाओं का इस सिद्धांत से सर्वथा विरोध है। वे इस विकासवाद के अनुसार असंगत ठहरती हैं...।"*9 वे जीवन के विभिन्न अनुशासनों पर विकासवाद के प्रभाव को स्वीकारते हुए कहते हैं- "*जगत की उत्पति, जीवों की उत्पत्ति, मनोविज्ञान, कर्तव्यशास्त्र, इतिहास, धर्माधर्म, समाजशास्त्र सब की व्याख्या विकास पद्धति का अवलंबन करके की गई है।* "10 'सभ्य संसार का भावी धर्म', 'धर्म का विकास' और 'भक्ति का विकास' नामक उनके निबंध विकासवादी दृष्टि से धर्म और भक्ति को समझने और संशोधित करने का प्रस्ताव करते हैं। शुक्लजी का 'लोकधर्म' और 'लोकमंगल' भी वस्तुतः विकासवाद से प्रेरित है। उनकी समाज संबंधी धारणा विकासवाद से प्रभावित है। "*'विश्वप्रपंच' की भूमिका में उन्होंने प्राचीन भारतीय समाज से शुनःशेप, उद्दालक और श्वेतकेतु, दीर्घतमस, कुंती आदि के दृष्टांतों के माध्यम से यह दिखाया है कि किस प्रकार भारतीय समाज असभ्यता से सभ्यता की ओर विकसित हुआ।"* 11 हालाँकि शुक्लजी का जाग्रत बोध या विवेक डार्विन के विकासवाद में अंतर्निहित 'योग्यतम की उत्तरजीविता' के सिद्धांत को नहीं स्वीकारता। वे इस अवधारणा में निहित भक्षण वृत्ती या यांत्रिक तटस्थता के पक्ष में नहीं, बल्कि मानवीय पक्षधरता के विश्वासी हैं। यह तर्क एक प्रकार से 'श्वेत श्रेष्ठता' के नस्लीय दावों और युगीन साम्राज्यवादी शक्तियों के वर्चस्व को वैधता प्रदान करने वाला था। शुक्लजी मनुष्यता के संतुलित विकास के पक्ष में हैं और इसके लिए हड़प या हिंसा की प्रवृति के बजाय समरसता, सामंजस्य और सहयोग के हिमायती हैं। ध्यातव्य है कि माल्थस के प्रभाव से डार्विन ने प्राणीजगत में संघर्ष और योग्यतम के जीने का जो सिद्धांत अपनाया था, उसका शुक्लजी के विवेचन में अभाव है। वे स्पेंसर की 'परस्पर साहाय्य' की प्रवृत्ति का उल्लेख करते हैं जिसका उत्कर्ष वे 'वसुधैव कुटुंबकम' के भाव में बताते हैं।

ईश्वर संबंधी धारणाओं के प्रति शुक्लजी जी इस भूमिका में कहते हैं "*सब मतों और संप्रदायों में धर्म और ईश्वर की जो सामान्य भावना है उसी का पक्ष अब शिक्षित पक्ष के अंतर्गत आ सकता है। ईश्वर साकार है कि निराकार, लंबी दाढ़ी वाला है कि चार हाथ वाला, अरबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजने वालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठाने वालों से, इन बातों पर विवाद करने वाले अब केवल उपहास के पात्र होंगे।*"12 अपनी सुदीर्घ भूमिका में विभिन्न दार्शनिक मतों एवं अद्यतन वैज्ञानिक प्रगति का सारांश प्रस्तुत कर लेने के बाद वे कहते हैं- "*अब जिन्हें मैदान में जाना हो वह नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जाएँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं- एक ओर आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी; एक ओर जडवादी, दूसरी ओर नित्य चैतन्यवादी। यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गई तो फिर सब मतों की भावना का समर्थन हुआ समझिए क्योंकि चैतन्य सर्वस्वरूप है। नाना भेदों में अभेद दृष्टि ही सच्ची तत्वदृष्टि है। इसी के द्वारा सत्य का अनुभव और मतमतान्तर के रागद्वेष का परिहार हो सकता है।*"13 दरअसल 'नाना भेदों में अभेद दृष्टि' पदबंध आचार्य शुक्ल के भारत बोध को समझने की कुंजी है। इसमें कोई शंका नहीं कि शुक्लजी नित्य चैतन्य सत्ता या ब्रहा को मानते हैं। वे जगत को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं; लेकिन एक बार जब वे जगत या लोक में आते हैं तो किसी भी अलौकिक, दिव्य, नित्य चैतन्य सत्ता का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते। आचार्य शुक्ल अपने इस लोकवाद या वस्तुजगतवाद के सहारे 'रस' को तमाम प्रकार के शास्त्रीय मकड़जाल से मुक्त करते हुए जागतिक आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी इस विद्वतापूर्ण भूमिका में और अनूदित पाठ की पाद टिप्पणियों में भी पाश्चात्य परम्परा और भारतीय परम्परा के विभिन्न विद्वानों के मतों का उल्लेख किया है। उन्होंने पाश्चात्य परम्परा से शेफर, हक्सले, हैकल, लॉर्ड केल्विन, सर विलियम क्रुक्स, ह्यूम, मिल, डार्विन, हरबर्ट स्पेंसर, ऑलिवर लॉज, प्रो. बेटसन, देकार्त, कांट, फिक्ट, बर्कले, हीलिंग, शोपेनहावर आदि तथा भारतीय परम्परा से वैशेषिक, न्याय, तैत्तिरीयोपनिषद, गरुडपुराण, योगदर्शन, पतंजलि, चरक, सांख्य, वेदांत, चार्वाक, शंकर भाष्य, ऋग्वेद, केनोपनिषद, वेदव्यास आदि के मतों को उद्धृत और विश्लेषित किया है। कई उदाहरणों में, जैसे कि आधुनिक परमाणु सिद्धांत और वैशेषिक दर्शन के प्रसंग में, शुक्लजी भारतीय प्राचीन दार्शनिक परम्परा के विज्ञान सम्मत तत्वों का उद्घाटन करते हैं और आधुनिक वैज्ञानिक स्थापना से उसका अंतर भी स्पष्ट कर देते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अपनी दार्शनिक या जातीय परम्परा के प्रति उनकी अंधभक्ति नहीं है, बल्कि कई उदाहरणों में विज्ञान सम्मत विवेक दृष्टि से वे उसकी कमियाँ भी गिनाते हैं, आलोचना भी करते हैं। डॉ रामविलास शर्मा ने 'विश्वप्रपंच' की भूमिका में निहित शुक्लजी की विचार-दृष्टि के आधार पर लिखा है- "*ईमानदारी का यह तकाजा जरूर है कि शुक्लजी अपने युग के हिंदी अहिंदी विचारकों से कितना आगे थे और उनकी विचारधारा कितनी वैज्ञानिक है इसे अब हम स्वीकार करें।* "14

'विश्वप्रपंच' की भूमिका और अनूदित पाठ में शुक्लजी की पाद टिप्पणियाँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। ये पाद टिप्पणियों अनुवादकीय स्पष्टीकरण से अधिक एक चिंतक की चिंतन है। शुक्लजी का अनुवाद-उद्देश्य नवजागरण परक वृहतर महाउयम के उद्देश्यों से परिचालित होता है। इसमें यदि एक और ज्ञानवर्धन का उद्देश्य था तो दूसरी ओर भारत के शाश्वत पिछड़ेपन की उपनिवेशवादी व्याख्याओं के बरक्स भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता सिद्ध करने की ललक भी थी। इसलिए अपनी पाद टिप्पणियों में वे भारतीय परम्परा से तुलनात्मक साक्ष्य प्रस्तुत और विवेचित करते चलते हैं। महत्वपूर्ण यह है कि वे अपनी परम्परा के नकारात्मक तत्वों की आलोचना भी करते हैं। परम्परा का युगानुकूल संशोधन उनके भारत बोध का अनिवार्य तत्त्व है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा 'विश्वप्रपंच' का अनुवाद जातीय भाषा की सृजनात्मकता को भी प्रमाणित करने का प्रयत्न है। उस युग में पारिभाषिक शब्दावली का रूप-स्थिरीकरण तो दूर की बात है, इसका निर्माण तक नहीं हो पाया था। शुक्लजी के इस मौलिक प्रयत्न हेतु उनकी तुलना बेकन से की गई।15 वस्तुतः 'विश्वप्रपंच' की पारिभाषिक शब्दावली का ऐतिहासिक महत्व है। वैज्ञानिक- दार्शनिक अंग्रेजी शब्दों के हिंदी प्रतिरूपों का निर्धारण समयसाध्य एवं श्रमसाध्य तो रहा ही होगा, बुद्धिसाध्य भी कम नहीं रहा होगा। प्रतिरूपों के निर्धारण के लिए शुक्लजी ने मुख्यतः संस्कृत का आश्रय लिया है। उन्होंने पुराने शब्दों में भी नई अर्थवता भर दी है, जैसे 'केमिस्ट्री' के लिए 'रसायन' शब्द का प्रयोग। वे पारिभाषिक शब्द निर्माण के क्रम में वैज्ञानिक पद्धति का अनुपालन करते हैं। वैज्ञानिक द्विनाम पद्धति पर निर्धारित उनके प्रतिरूपों का उदाहरण द्रष्टव्य है- Canis familiarizes श्वकुक्कुर (पालतू कुत्ता), Canis aureus श्ववृक् (भेडिया) Canis lupus श्वजंबुक (गीदड़), Canis vulpes श्वलोमशा (लोमड़ी)। 16 उचित प्रतिरूप की तलाश में शुक्लजी अपनी परम्परा को खंगालते हैं। उदाहरण के लिए, 'ऑर्गेनिक' और 'इनॉर्गेनिक' शब्दों के हिंदी प्रतिरूप 'सेंद्रिय' और 'निरिन्द्रिय' उन्होंने चरक से लिए लिए हैं- 'सेंद्रिय चेतनं द्रव्य निरिन्द्रियमचेतनम्। शब्द-चयन हेतु वे अपनी लोक परम्परा के पास भी जाते हैं। ऐसे कुछ शब्द हैं पतंगा, छुछमछली, बनमानुस, लजालू आदि।

हालाँकि 'विश्वप्रपंच' की भूमिका में, और अनूदित पाठ में भी, कहीं-कहीं इतर परंपराओं के प्रति शुक्लजी का पूर्वग्रह खटकता है। तमाम वैज्ञानिक दार्शनिक प्रतिपादनों के बीच समाहित शुक्लजी के सुचिंतित भारत बोध में अपनी जातीय परम्परा के प्रति अतिरिक्त लगाव या पक्षधरता को महसूस किया जा सकता है। हालाँकि इसे सांस्कृतिक अस्मिता की लड़ाई के परिप्रेक्ष्य में प्रतिक्रियात्मक ही माना जा सकता है, स्वाभाविक नहीं। निश्चय ही, पुनरान्वेषण और 'निर्माण' के तयुगीन प्रयत्नों की अपनी सीमाएँ हैं और इसे स्वीकार करना शुक्लजी के प्रति किसी प्रकार की कृतघ्नता न होगी। ये सीमाएँ वस्तुतः युग-संक्रमण की प्रक्रिया में उत्पन्न मूल्य-संक्रमण का ऐतिहासिक साक्ष्य हैं। यदि शुक्लजी ने अध्यात्मवाद का विरोध किया

तो आज यह देखना रोचक होगा कि उनके बाद रहस्यवाद, ज्योतिष और भाग्यवाद तथा कर्मकांड आदि में लोगों का विश्वास आज कितना घटा या बढ़ा है। इस प्रवृत्ति के अलावा हमें यह भी समझने की आवश्यकता है कि समकालीन भारत में पूंजीवादी साम्राज्यवाद के परिवर्तित रूपों उपभोक्तावादी उपनिवेशवाद, बौद्धिक उपनिवेशवाद आदि वैश्विक प्रवृत्तियों से सचेत रहते हुए, आत्महीनता की मनोवृत्ति को त्याग कर तथा अपनी जातीय परम्परा से जुड़कर किस प्रकार एक स्वस्थ भारत बोध अर्जित किया जा सकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का समग्र चिंतन इस प्रक्रिया में एक संदर्भ-बिंदु की भूमिका निभा सकता है। नामवर सिंह ने बिल्कुल सही कहा है- "*जिस सेकुलरिज्म का आज बहुत गुणगान किया जाता है और कभी-कभी विकृत रूप में उसे लागू करने की कोशिश की जाती है वह उदार दृष्टि धार्मिक अंधविश्वासों को, रुढ़ियों को हटाकर एक समन्वित जातीय, राष्ट्रीय दृष्टिकोण कैसे हो सकती है इसके बीज आप 'विश्वप्रपंच' की भूमिका में देख सकते हैं।*"17

डॉ. आलोक कुमार सिंह

असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, डी.सी. कॉलेज, हाज़ीपुर, बिहार

घोषणाः प्रस्तुत शोध आलेख मेरा मौलिक प्रयत्न है।

डी. सी. कॉलेज, हाजीपुर, बिहार

संदर्भ संकेतः

1. 'तत्कालीन हिन्दी बौद्धिकों द्वारा अनुवाद के माध्यम से हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने हेतु रचे गए 'भांडार' के रूपक की चर्चा फ्रैसेस्का ओरसिनी ने भी की है। द्रष्टव्य- 'What Did They Mean by 'Public'?: Language, Literature and the Politics of Nationalism", Frencesca Orsini, EPW, Vol. 34, No. 7, 409-416
2. Siting Translation: History, Post-Structuralism and the Colonial Context, Tejaswini Niranjana, University of California Press, 1992
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली, भाग- 5. सं. ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2007, पृ. 363
4. 'भारत को क्या करना चाहिए, आचार्य रामचंद्र शुकान ग्रंथावली, भाग- 4. सं. ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2007,पृ. 131-135
5. प्रथम संस्करण का वक्तव्य, विश्वप्रपंच, आचार्य रामचंद्र शुक्ल संथावली, भाग ६. सं. ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2007

6. नया मानदंड, अंक 31 जनवरी-मार्च 2004, पृ. 29
7. भूमिका, 'विश्वप्रपंच', पू. 7
8. वहीं, पृ. 19
9. वहीं, पृ. 44
10. वही. पू. 53
11. वही, पू. 54-55
12. वही, पृ. 81-82
13. वही, पृ. 82 14
14. 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना', रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 26
15. 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल का गद्य-साहित्य', अशोक सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1981, पृ. 184
16. The Riddle of the Universe, Ernst Haeckel, Translated by Joseph McCab, London, 1929, 7. 59: 'विश्वप्रपंच', पृ. 116
17. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी नवजागरण, आलोचक के मुख से, सं. खगेन्द्र ठाकुर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 60

…

(शोध आलेख)

# परफेक्शन को पाने की ललक

डॉ. धीरेन्द्र कुमार

एक मध्यम मछोले आकर की कद काठी, एक कलाकार या रंगरेज का चेहरा, आँखों में अदृश्य के पार देखने की ललक, मुँह और होठों पर संकोच का भाव, चाल में एक संगीत-सी लय और ठहराव… ये रेखांकन गोबिन्द प्रसाद के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अभिन्न हिस्सा है। अथवा यूँ कहूँ कि गोबिन्द जी के अन्दर एक छिपा हुआ कलाकार है जो उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में आप्लावित है। गोबिन्द जी का स्वभाव बहुत मुखर नहीं है। जब तक आप उनसे वार्तालाप नहीं करते तब तक उनके अन्दर के कवि या कलाकार से परिचय करना नामुमकिन है। वह बहुत खुले मिज़ाज के व्यक्ति भी नहीं हैं। उनके लिए यह कहना ज्यादा श्रेयस्कर होगा कि उनके अन्दर एक संकोच का भाव है, जो उन्हें जल्दी मुखर होने से रोकता रहता है। शायद इसलिए उनके लेखन में भी वह मुखरता नहीं है, जो तथाकथित लेखकों में अक्सर देखी जाती है। वह एक दो मुलाकात में शायद ही आपसे ज्यादा बात करें! वह बहुत हंसमुख किस्म के व्यक्ति भी नहीं हैं। जिन लोगों ने उनके साथ समय बिताया है और ज्ञान की गूढ़-गंभीर बातों पर उनको सुना है, सत्संग किया है, वह जानते हैं कि उनको सुनना कितना ज्ञानार्जित और खुद को परमार्जित करता है। उनके सामने हिंदी-उर्दू कविता के किसी पक्ष को उठाइए, वह उसके एक-एक रेशे को खोलकर उसके अन्दर छिपे हुए सौन्दर्य और भाषिक विधान की बारीक़ परत से सहज ही परिचित कराते चलेंगे। आप जिज्ञासावश कविता का कोई एक पक्ष ही क्यूँ, उसकी एक 'पंक्ति' या ग़जल का कोई 'शे'र' ही सुना दीजिए, वह आपको उसके मानी के अतिरिक्त उससे संबंधित अनेक शे'र से आपका साक्षात्कार करा देंगे।

एक गंभीर विद्यार्थी को उससे ज्यादा सुकून शायद ही कहीं मिले। यह मैं अतिश्योक्ति में नहीं कह रहा हूँ बल्कि बीते दस वर्ष (2010-20) के अनुभव के आधार पर उनके प्रति अपनी समझ को साझा कर रहा हूँ। उन्होंने हमें अनेक चर्चाओं के दौरान एक-एक शब्द और एक-एक वाक्य के बीच के रेशे के उद्गम तक जाकर उसकी अनेक अर्थ-ध्वनियों को सहज भाव से समझाया है। यह गोबिन्द जी के अध्ययन की व्यापकता और उसकी गहराई को प्रकट करता है। अपने छात्रों को एक शब्द पर चर्चा के दौरान अन्य भाषाओं के समानार्थी शब्दों को एक साथ रख देना और फिर उन भाषाओं में उनके अलग-अलग अर्थ प्रयोग को विनम्र भाव से समझाना गोबिन्द जी के स्वभाव का हिस्सा है।

गोबिन्द जी स्नेहिल स्वभाव के कारण विद्यार्थियों में काफ़ी लोकप्रिय हैं। अमूमन यह देखा जाता है कि शोधार्थी अपने निर्देशक से अपने शोध विषय पर ज्यादा परामर्श लेते हैं और सेंटर के अन्य शिक्षकों के

पास जाने से हिचकते हैं। इसके कारण चाहे जो भी हों लेकिन गोबिन्द जी के पास आने में विद्यार्थी ज्यादा संकोच नहीं करते। जो विद्यार्थी संचोच में होते हैं, वह उनके किसी विद्यार्थी के साथ उनके पास आसानी से पहुँच जाते थे। फ़िलवक्त वह जे.एन.यू. के भारतीय भाषा केन्द्र से सेवा निवृत्त हो चुके हैं। बावजूद इसके आज भी दिल्ली के अन्य विश्वविद्यालयों के छात्र उनके पास अपने शोध कार्य की समस्याएँ लेकर आते ही रहते हैं और वह बहुत ही आत्मीयता के साथ उनकी समस्याओं का निवारण करने में मदद करते हैं। गोबिन्द जी कविता के विशेषज्ञ हैं, इसलिए उनके निर्देशन में शोधरत विद्यार्थी कविता पर आनुपातिक रूप से अधिक आते हैं। पूरे जे.एन.यू. के भारतीय भाषा केन्द्र में गोबिन्द जी का शोधकार्य का अध्याय विभाजन बेजोड़ था। इसलिए अन्य निर्देशकों के शोधार्थी भी उनसे अध्याय विभाजन में मदद लेने अक्सर आते ही रहते थे। गोबिन्द जी शोधकार्य में अपने शोधार्थियों को पूरी छूट देते थे। जब कभी चर्चा के दौरान शोधार्थी के कार्य के बारे में पूछते और उनकी शंकाओं का समाधान भी करते। वह विषय की समझ और शब्द एवं भाषा की शक्ति पर शोधार्थी का ध्यान केन्द्रित करना चाहते। उन्होंने जे.एन.यू. में लगभग 25 वर्ष अध्यापन कार्य किया जिसमें सैकड़ों विद्यार्थियों को शोध की बारीकियों और विषय की समझ से परिचित कराया। यह गोबिन्द जी की ऐसी पूंजी है जो उनके पास में नहीं आ सकती लेकिन उनकों विद्याथियों और शोधार्थियों के जीवन को संवारने में मदद अवश्य करेगी। अब उनके विद्यार्थी ही ज्ञान की इस पूंजी को आगे बढाएँगे।

गोबिन्द जी मेरे गुरु हैं। मैंने उनसे एम. ए. में प्रगतिशील हिंदी कविता और 'निराला' को विशेष रूप से पढ़ा है। तब से मैं कविता के प्रति उनकी समझ का मुरीद हूँ। मैंने उनके साथ एम.फिल. और पी.एचडी. का शोधकार्य भी किया है। इसलिए आज कविता के प्रति जो भी समझ विकसित हुई है उसमें गुरु जी का विशेष योगदान है। इनसे पढने के बाद कविता के प्रति मेरी पूर्व धारणा एकदम बदल गयी। अब मैं साहित्य की एक कथित उपेक्षित गली से होते हुए आधुनिक हिंदी कविता की उस वृहद दुनिया से हमकलाम हुआ जिसमें मुझे निराला, अज्ञेय, शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण, केदारनाथ सिंह, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी के साथ कई और अनूठे कवि मिले। इन कवियों ने मुझे और-और राहें दिखाई; जिनसे गुज़रते हुए मैं विश्व कविता से वाक़िफ़ हुआ। नाज़िम, लोर्का, नेरुदा, मैरी ऑलिवर, निकानोर पार्रा, बेन ओकरी, परवीन शाकिर, फ़ैज़, फ़राज़ और फ़िराक़ से फिर यहाँ भेंट हुई। इन कवियों के पास आकर मैंने सुकूत और आज़ार को एक साथ अपने पहलू में पाया और वह पाना ऐसा है जो उम्र भर अब मुझसे नहीं छूट सकता। कविता एक माध्यम बनी जिसने मुझे कई-कई ज़बानों के स्वप्न, संघर्ष और उनकी जातीय स्मृतियों को समझने का मौक़ा दिया। मैंने पाया, मनुष्य का भूगोल और उसकी ज़बान चाहे जो हो लेकिन कविता ने उनके जीवन के उजले-काले, धूसर रंग को बरत कर एक कैनवास में दर्ज कर लिया है।

मैंने कविताओं में कई ध्वनियों को सुना। नए शब्द रूपों को जाना। मेरी ही भाषा के कई अजाने रूप मेरी नज़रों में खुल गए। मुझे जो सीढ़ी मिली उससे मैं शब्दों, ध्वनियों, रूपों और भावों की एक ऐसी दुनिया में आ गया जहां हर क़िस्म की विविधता थी। यहाँ मैंने अछूता सौन्दर्य देखा। लिथड़ी और ग़लीज़ गंदगी देखी। हौसलों के कठोर पठार देखे। हताशा और ना-उम्मीदी की बहुत दूर तक न ख़त्म होने वाली ढलान देखी। मनहूस स्वप्नों को सच होते पाया। समाज, धर्म और राजनीति की ऐसी भूमिगत बिसात देखी जिसकी समझ सिर्फ़ समाज विज्ञान के शास्त्रों के सहारे नहीं हासिल की जा सकती। अब यहां पहुँच कर मैं कविता के सम्मोहन से मुक्त था। अब वह मेरी ज़रूरतों में शुमार हो चुकी है। मैंने जाना कि साहित्य के इतिहास का एक बड़ा अर्थ कविताओं का इतिहास है। कविता पहले एक शब्द रूप है और उसके बाद वह इतिहास भी है, झूठ-सच की कीमियागिरी भी है, भविष्यवाणी भी और 'सभ्यता समीक्षा' भी! बहरहाल!

गोबिन्द जी सदैव एक परफेक्शन के कायल रहे हैं। इसलिए कम लिखना और जितना लिखा उसमें उन्होंने एक परफेक्शन को खोजा है। अथवा यूँ कहूँ कि उनके सम्पूर्ण लेखन में अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने की ललक है। अज्ञेय ने कहा है कि 'किसी शब्द का प्रयोग करना उसके अब तक के किए गए प्रयोग से कम अर्थ के लिए करना उसके साथ अन्याय करना है'। गोबिन्द जी की कविता, आलोचना और डायरी इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने कभी लेखन को फैशन का अंग नहीं बनाया। उन्होंने कभी कुछ भी लिखने के लिए नहीं लिखा अपितु जब उनकी अनुभूति ने कुछ विशेष समझा उन्होंने तब कुछ विशेष की खोज में, कुछ अर्थगर्भ के लिए, कुछ नया प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सृजन किया। इसमें उन्हें कहाँ तक सफलता मिली इसका मूल्यांकन अभी बाकी है। लेकिन मैं इतना जरुर कह सकता हूँ कि 'आलाप और अन्तरंग' तथा 'ख़्वाब है दीवाने का' उनके सम्पूर्ण लेखन का स्केचचित्र/ग्राफिक्स है। उसमें कविता भी है, आलोचना भी है, कहानी भी है, संस्मरण भी है, संगीत भी है, दर्शन भी है और इन विधायों के इतर एक ऐसा साहित्य भी है जिसकी शक्ल अभी साहित्य में उपलब्ध नहीं है। इसे नितांत मौलिक कह सकते हैं। मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में जिन तीन क्षणों की बात की थी, वह हिंदी साहित्य में मौलिक सृष्टि थी। उसी तरह 'आलाप और अन्तरंग' और ख़्वाब है दीवाने का' डायरियों में जगह -जगह ऐसी टीपें हैं जो उन तीन क्षणों के एहसास की याद दिलाती हैं। वह चाहे रचना-प्रक्रिया, लय, ताल, संगीत, चित्रकला, बिम्ब, अनुभूति, शब्द, भाव, ध्वनि जैसी अनगिनत अव्याख्येय अथवा दुरूह समझे जाने वाले शब्दों पर इनकी मौलिक व्याख्या क्यों न हो। हिंदी में अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध के बाद इस तरह का चिंतन विरल है।

गोबिन्द जी युवावस्था में त्रिलोचन और शमशेर के सानिध्य में रहे हैं। उनके साथ हिंदी के अनेक स्वनामधन्य रचनाकारों से मिले हैं। त्रिलोचन इनके काव्य गुरु हैं। शमशेर से इन्होंने कविता को बरतने का ढंग सीखा है और अज्ञेय से शब्द का संस्कार। मुझे लगता है प्रगतिशील और नयी कविता के इन तीन

कवियों ने बाद की पीढ़ी को सर्वाधिक प्रभावित किया है। मुक्तिबोध बड़े कवि हैं लेकिन वह 'बौद्धिक कवि' बनकर रह गए। आज भी उनकी फेंटेसी के पीछे छिपा हुआ आम आदमी का दुःख-दर्द कम ही समझ में आता है। हिंदी के पाठक वर्ग की अप्रोच ही कुछ ऐसी है कि उसे नागार्जुन लुभाते हैं लेकिन मुक्तिबोध कठिन नज़र आते हैं। नागार्जुन की कविता सहजता का आवरण ओढ़कर जीवन के गणित को आसानी से व्यक्त करती है। राजनेताओं और पूंजीपतियों पर व्यंग्यात्मक शैली में हंसती है। नागार्जुन की कविता की कमजोरी यह है कि वह हद से ज्यादा मुखर है और शब्द लाघवता में विश्वास नहीं करती। कभी-कभी लगता है कि वह कविता में कहने से ज्यादा बोलते अधिक है। यह अधिक बोलना कभी अखरने लगता है। इसका कारण है कि उनके यहाँ शब्द के अमूर्तन में अर्थ सौन्दर्य की छाया बहुत कम है। उनकी कविता वाचालता की ओर मुड़ी हुई है।

गोबिन्द जी का मन उर्दू साहित्य में खूब रमा है। मीर तकी 'मीर', ग़ालिब, दाग देहलवी, इक़बाल, फैज़ अहमद फैज़, फ़िराक़ गोरखपुरी, ज़िगर मुरादाबादी, ख़्वाजा अल्ताफ़ हुसैन हाली, शम्सुर्ररहमान फ़ारूकी, इंतजार हुसैन, नासिर काज़मी, अहमद मुश्ताक़, फैमिदा रिज़ाब, शकेब जलाली, बानी और प्रियदर्शी ठाकुर 'ख़याल' आदि पर इनका लेखन अथवा अनुवाद कार्य सराहनीय है। शम्सुर्ररहमान फ़ारूकी की किताब 'उर्दू का इब्तिदायी ज़माना' का 'उर्दू का आरंभिक युग', फ़िराक़ गोरखपुरी की 'उर्दू की इश्किया शायरी', बानी की 'कुल्वाते बानी' अहमद मुश्ताक़ की 'गिर्दे महताब', फैमिदा रिजाब की 'आदमी की जिंदगी', शकेब जलाली की 'रौशनी' आदि उर्दू की अनेक रचनाओं के हिंदी में अनुवाद किए हैं। ईरान के सांस्कृतिक शोध केंद्र से दो खण्डों में प्रकाशित 'फ़ारसी-हिंदी कोश'(2001) और 'फ़रहंगे-आर्यन' (फ़ारसी-हिंदी-अंग्रेजी-उर्दू कोश) के अभी तक प्रकाशित तीन भागों का सह-संपादन किया। इन्होंने उर्दू के उस्ताद चिनानन गोबिन्दपुरी के सानिध्य में उर्दू की बारीकियों को जाना और उनको अपना उस्ताद स्वीकार किया। इनके हिंदी काव्यगुरु त्रिलोचन हैं तो उर्दू के उस्ताद चिनानन गोबिन्दपुरी।

हिंदी-उर्दू के क्लासिकल साहित्य के अलावा संगीत और पेंटिंग में गोबिन्द जी की गहरी रूचि है। वह क्लासिक संगीत के बहुत रसिक हैं। बहुत मन से सुनते हैं। इसका कुछ असर उनके विद्यार्थियों पर भी देखा जा सकता है। यह बहुत अच्छा गाते हैं। जो उनके शागिर्द रहे हैं उन्होंने उनकी गायकी का आनंद उठाया है। उनके पास संगीत की अच्छी समझ है और छोटे-बड़ेकलाकार की बारीक़ पहचान है।

इन्होंने 'नवभारत टाइम्स' में बतौर म्यूजिक रिपोर्टर कुछ समय के लिए कार्य किया। हिन्दुस्तानी राग संगीत के महत्त्वपूर्ण ख्याल गायकों पर इनका लिखा हुआ देश की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपा है। संगीत के बड़े उस्ताद मल्लिकार्जुन मंसूर, कुमार गन्धर्व, किशोरी अमुनकर, नुसरत फ़तेह अली खां, तलत महमूद,

जे. स्वामीनाथन, बेग़म अख्तर और शैलेन्द्र पर अविस्मरनीय लिखा। ये सभी लेख ‘आजकल’ या ‘दिनमान’ में प्रकाशित हुए। यह महत्वपूर्ण कार्य जल्द ही हम सभी को पुस्तक के रूप में पढने को मिलेगा।

गोबिन्द जी को संगीत के अलावा पेंटिग का अभिन्न शौक है। इन्होंने युवावस्था में वाणी और राजकमल प्रकाशन के लिए पुस्तकों के कवर पेज बनाए। मुझे लगता है कि उनके हिंदी लेखन के साथ-साथ पेंटिंग्स के इस काम पर हिंदी वालों की नज़र जानी चाहिए। संगीत की तरह गोबिन्द जी का यह कार्य भी अविस्मणीय है। जिन लोगों ने शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास ‘नीला चाँद’ पढ़ा है, उसका कवर शायद ही दिमाग से विस्मित होगा! इसके अतिरिक्त महादेवी वर्मा की ‘स्मृति की रेखाएँ’, रामविलास शर्मा की ‘विरामचिन्ह’, ‘रूप तरंग’ और ‘प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि’,केदारनाथ अग्रवाल की ‘गुलाब और बुलबुल’, नागार्जुन की ‘खिचड़ी विप्लव देखा हमने’ तथा इनकी एक-दो रचनाओं को छोड़कर लगभग सभी रचनाओं के कवर पेज बनाए, शमशेरबहादुर सिंह की ‘काल तुझसे होड़ है मेरी’, त्रिलोचन की ‘अबोला’ और ‘तुम्हें सौंपता हूँ’, भीष्म सहनी की ‘कुंतो’, श्रीलाल शुक्ल की ‘विश्रामपुर का संत’, शिवप्रसाद सिंह की ‘नीला चाँद’, ‘गली आगे मुडती है’, सुरेन्द्र वर्मा की ‘दो मुर्दों का गुलदस्ता’, धर्मवीर भारती की ‘सपना अभी भी’, रामदरश मिश्र की ‘पानी के प्राचीर’ और ‘जल टूटता हुआ’, धूमिल की ‘सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र’, विजयदेव नारायण की ‘साखी’, देवीशंकर अवस्थी की ‘रचना और आलोचना’, ‘भक्ति और सन्दर्भ’ तथा ‘आलोचना और आलोचना’, केदारनाथ सिंह की ‘मेरे समय के शब्द’, नित्यानंद तिवारी की ‘सृजनशीलता का संकट’ संजीव की ‘सूत्रधार’, विनोदकुमार शुक्ल की ‘दीवार में एक खिड़की रहती थी’,विजयमोहन सिंह की ‘शेरपुर पन्द्रह मील’, रमेश कुंतक मेघ की ‘अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा’, कर्णसिंह चौहान की ‘प्रगतिवादी आन्दोलन का इतिहास’ उदय प्रकाश की ‘तिरिछि’, हरभजन सिंह की ‘कोई देख रहा है’, नरेन्द्र कोहली की ‘महासमर’, रंजना अरगड़े की ‘कवियों का कवि शमशेर’, रमेश रंजक की ‘दरिया का पानी’ कुमार विमल की ‘सपने में एक औरत से बातचीत’, समीक्षा ठाकुर की ‘कहना न होगा’आदि महत्वपूर्ण रचनाओं के कवर पेज बनाए। पुस्तक का कवर पेज बनाना आसान नहीं होता। जितना कि हम सोचते हैं। कवर पेज और उसकी डिजाइन में पुस्तक की अंतर्वस्तु प्रतिबिम्बित होती है। कई बार पुस्तक हाथ में आते ही उसका कवर पेज आपसे बातें करने लगता है और आप उसके विषय का अनुमान कर लेते हैं।

गोबिन्द जी ने न केवल किताबों के कवर पेज बनाए अपितु ‘आजकल’, ‘कथादेश’, ‘तद्भव’, ‘अपेक्षा’, ‘जे.एन. यू परिसर’ के लिए आवरण से लेकर कैलीग्राफ़ी भी की। पंकज बिष्ट के ज़माने में ‘आजकल’ के लिए की गई कैलीग्राफ़ी आज तक चल रही है। ‘इण्डिया टुडे’ की वार्षिकी और ‘अहा!

जिंदगी' पत्रिकाओं में गोबिन्द जी की पेंटिंग्स छप चुकी हैं। नागार्जुन का जो चित्र सबसे ज्यादा पोपुलर है। वह गोबिन्द जी द्वार बनाया गया पेन्सिल का अद्भुत स्केच है। इस सत्य से बहुत कम लोग परिचित हैं।

गोबिन्द जी मूलतः हिंदी साहित्य के व्यक्ति हैं। लेकिन उनकी आवाजाही हिंदी-उर्दू-फ़ारसी में समान है। हिंदी में उनके अब तक चार कविता संग्रह 'कोई ऐसा शब्द दो'(1996), 'मैं नहीं था लिखते समय'(2007), 'वर्तमान की धूल'(2014), यह तीसरा पहर है(2018) आलोचना की पांच किताब 'त्रिलोचन के बारे में' (संपादन-1994), 'कविता के सम्मुख'(2002), 'केदारनाथ सिंह की कविता : बिम्ब से आख्यान तक'(2013), 'कविता का पार्श्व'(2013), 'शमशेर एक अभिनव राग'(2018), नामवर सिंह के साथ 'मलयज की डायरी' का सन 2000 में सह संपादन, 'केदारनाथ सिंह की पचास कविताएँ'(2012), कवि ने कहा : 'केदारनाथ सिंह की कविताएँ'(2014) और राजकमल से शीघ्र प्रकाशित 'त्रिलोचन रचनावली' का संपादन महत्त्वपूर्ण कार्य हैं।

समकालीन हिंदी कविता में गोबिन्द जी प्रगतिशील काव्यधारा के अन्यतम रचनाकार हैं। विद्यार्थी जीवन से उनका झुकाव मार्क्सवादी विचारधारा की तरफ रहा और शिक्षक जीवन में वह लम्बे समय तक जनवादी लेखक संघ (जलेस) के उपाध्यक्ष रहे। गोबिन्द जी कभी सस्ती लोकप्रियता के पीछे नहीं भागे। वह लेखकों की खेमेबाज़ी से दूर 'एकला चला रे' पर विश्वास करते रहे हैं। उनके लेखन की गंभीरता इस बात का सबूत है कि वह साहित्य को खण्डशः देखना पसंद नहीं करते। उन्होंने साहित्य को सदैव सदाशयता में देखा है। शायद इसलिए वह अस्मितामूलक विमर्शों से दूर रहे। विमर्शों से दूर रहकर भी उन्होंने कविता और आलोचना में अस्मितामूलक विमर्श और उनके दुःख दर्द को गहराई से अभिव्यक्त किया है। इनकी कविताओं में दलित जीवन से सम्बधित अनेक पंक्तियाँ जगह-जगह बिखरी हुई हैं- 'और क्या देखने को बाक़ी है' कविता में 'किसी ने सच ही कहा था/ सात जनम भी गर इन सवर्णों का मैला सर पर ढोओगे/ याद रखना तो भी तुम कभी सवर्ण नहीं बन पाओगे' (वर्तमान की धूल, पृष्ठ-54),'जब में बोलता हूँ' कविता में'जब में बोलता हूँ.../ तो दरअसल बोलता कहाँ हूँ/ अन्दर-ही-अन्दर खौलता हूँ रह-रहकर/ कहीं अपने को टटोलता हूँ/ भीतर-ही भीतर/ उस भाषा में/ जिसमें इस हत्यारी संस्कृति की समाही हो नहीं सकती' (यह तीसरा पहर था, पृष्ठ-7),'सर्जना का रंग' कविता में 'शब्दों से डराते हो मुझे/ मेरी कविता चुराकर दिखाओ/ अपनी अमीरी का ख़ौफ़ दिखाते हो मुझे/ मेरी ग़रीबी चुराकर दिखाओ/...तुमने ज़मीनें हड़पीं, फसलें जलायीं, खेत चुराए/ धरती की कोख चुराकर दिखाओ/ धरती की कोख में हर पल खिलने वाली/ सर्जना का हरा रंग चुराकर दिखाओ/ दिखाने के लिए है क्या तुम्हारे पास...(उपर्युक्त, पृष्ठ-8)। इनके सम्पूर्ण काव्य में इस तरह की कई चमकदार पंक्तियाँ हैं। जिनमें दलित और स्त्री जीवन के अनेक धूल-धूसरित रंग बिखरे हुए हैं।

गोबिन्द जी की कविता का मूल कथ्य गहन मानवीय संवेदना से सम्पृक्त है। उसमें प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति, स्मृति, राजनीति, संगीत और राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय समसामयिक घटनाओं से उपजी पीड़ाजन्य अनुभूति की अनेक अनुगूँजें दर्ज हैं। इनकी कविताओं में पक्षियों के बसेरों के उजड़ने और उनके दुःख को न समझ पाने की पीड़ा है। 'आदतों की गुलामी' करने और उसे पूरी जिन्दगी न समझ पाने की अज्ञात विवशता है और लाखों मेहनतकश व्यक्तियों के दुःख दर्द को काव्यबद्ध करने की अकुलाहट भी है। इस अकुलाहट में मुखरता नहीं अपितु सर्जना की अनुभूति को पा लेने की विनम्र कोशिश है। जिसे हर प्रबुद्ध लेखक पाने के लिए भटकता रहता है। केदारनाथ सिंह ने इनकी काव्य भाषा को नोटिस करते हुए 'वर्तमान की धूल' काव्य संग्रह के फ्लैप पर बहुत सटीक लिखा है, "इस कवि ने हिंदी और उर्दू काव्य भाषा की बहुत सी दूरियाँ ध्वस्त कर दी हैं और इस तरह एक नयी काव्य-भाषा बनती हुई दिखती है। इसे गोबिन्द प्रसाद की एक काव्यगत सफलता के रूप में देखा जाना चाहिए। यह वह परम्परा है जिसकी शुरुआत कभी शमशेर ने की थी और गोबिन्द प्रसाद इसे आज की जरूरत के मुताबिक एक नए अंदाज़ में आगे ले जाने की कोशिश कर रहे हैं।" गोबिन्द जी का सम्पूर्ण लेखन पढने के बाद मैं कह सकता हूँ कि इनके पास पुरखों की ऐसी विरासत है जिसमें कहीं शमशेर हैं, कहीं अज्ञेय हैं, कहीं काव्य गुरु त्रिलोचन हैं, कहीं केदारनाथ सिंह हैं, कहीं उर्दू की कालजयी विरासत है, कहीं संगीत की ध्वनियाँ हैं, कहीं चित्रकला की अमूर्त और अव्याखेय दुनिया है। अतः इनका सम्पूर्ण लेखन उस परफेक्शन की खोज है जिसे पाने के लिए कवि या कलाकार भटकते रहते हैं। इस भटकाव के दौरान इन्होंने कविता, आलोचना और डायरी में अद्भुत लेखन किया है। यही एक लेखक की अपूर्णता से पूर्णता की यात्रा भी है।

...

(शोध आलेख)

# नागार्जुन के काव्य में संवेदना के विविध स्वर

सुमित कुमार चौधरी

नागार्जुन की काव्य दृष्टि आत्मभिव्यक्ति की राहत पा लेने का साधन मात्र नहीं है, बल्कि आत्म-दोष से मुक्त होकर नई राह खोजने वाली काव्य दृष्टि है। नागार्जुन की यह सबसे बड़ी खासियत है कि वह आत्मलोचन और आत्मनिरीक्षण करते हुए लोगों को भी इसके करीब लाते हैं और पाठक वर्ग को भी अपनी भाव-प्रतिक्रियाओं के एकाग्र अध्ययन और निरीक्षण करने के लिए बेजोड़ तरीके से उकसाते हैं। नागार्जुन का यह उकसाना क्रांति भाव ही है जो उनके काव्य मिजाज का अंदाजा दिलाता है। उनके काव्य मिजाज की व्याख्या करता है।असल में नागार्जुन की कविताओं का पाठ जिस-जिस ने भी अपने समय में किया होगा; वह जरूर आत्म-ज्ञान और वाह्य ज्ञान से परिचित हुआ होगा कि समाज के प्रति किस तरह से प्रतिबद्ध होना चाहिए। 'प्रतिबद्ध हूँ', 'हाशिये के समाज का कवि हूँ', इस तरह की काव्य दृष्टि या प्रौढ़ चिंतन नागार्जुन के यहाँ अकारण ही नहीं आए हैं। नागार्जुन की काव्य दृष्टि में कुछ तो उनके जीवनानुभूति और काव्यानुभूति के बीच के उसी ऊर्जस्वी अहसास, रूप-रस-गंध, जनता का कवि, किसानों के प्रति लगाव और क्रांति की ज्योति ही रहे होंगे जो नागार्जुन की कविताओं में शुरू से लेकर आखिरी तक सक्रिय दिखाई देते हैं, बिल्कुल यायावरी प्रवृत्ति की तरह।

दरअसल, कवि की काव्य दृष्टि समाज के यथार्थ चित्तवृति और कल्पना को लेकर निर्मित होती है। कवि अपने समाज की उधेड़-बुन से भलीभाँति परिचित रहता है और वह उन सब विकृतियों, सजावट-बनावट और भव्यता को काव्य में जगह देता है । ज़ाहिर है नागार्जुन की यह सबसे बड़ी विशेषता है जो उन्हें सामाजिकता के व्यापक दायरे में बाँधती है। उनकी काव्य चेतना में गाँव और शहर का समतावादी सेतु स्थापित कर विशिष्टता बोध को मिटाती है। जो सबको सुलभ हो सके। भले उसके मायने अलग-अलग हो। तभी कविता, कविता होती है। इस संदर्भ मे कवि कुँवर नारायण ने लिखा है, "कविता मनुष्य के दिल और दिमाग के जितना ही नज़दीक अपनी जगह बनाएगी, उसके लिए जीवित रहना उतना ही संभव और अर्थपूर्ण होगा।"1 इस तरह के काव्य रचना को प्रगतिशील और सामाजिक सरोकार से सम्बद्ध माना जा सकता है । केदारनाथ सिंह का कहना है, "नागार्जुन गहरे अर्थ में एक आधुनिक दृष्टि-सम्पन्न कवि हैं।"2

सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से उनकी कविता में ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक घटनाओं के साथ-साथ व्यंग्य, प्रेम, लोक और शास्त्र तक को आधार बनाती है और अपनी दमदार प्रस्तुति को लेकर उनकी कविता आजादी से पहले और आजादी के बाद तक का सफर तय करती है। जिससे हम

नागार्जुन के काव्य यात्रा से उनके समय के इतिहास को जान और समझ सकते हैं। चूँकि उनकी कविताओं का कथ्य आजादी के बाद का समाज और आजादी के पहले के समाज और राजनीति का समाहार है। इसलिए इनकी कविताएँ अपने समय की सबसे पुख्ता ऐतिहासिक दस्तावेज़ पेश करती है। । नागार्जुन ने विषकीट निबंध में स्वयं कहा है, “कबीर से मैंने दो-टूक अक्खड़पन लिया है और निराला से स्वाभिमान का संस्कार।”3 नागार्जुन ने इतिहासबोध और समकालीन राजनीति को केंद्र में रखकर कविता में नयेपन का सूत्रपात किया। कविता में नएपन का प्रयोग जिस तरह नागार्जुन ने किया था, उसकी भाषा और संवेदना आम जनमानस के कंठ में इस तरह समा गई कि नागार्जुन को जनता का कवि कहा जाने लगा। नागार्जुन की इसी ख़ासियत ने उन्हें बहुजन समाज के प्रति इस तरह उन्मुख और प्रतिबद्ध किया हैकि नामवर सिंह ने इनको आधुनिक युग का कबीर तक भी कह दिया। उन्होंने सामाजिक जीवन के जिस यथार्थ को जैसे देखा, जैसे जिया उसको उसी तरह कविता में पिरोने का यथा संभव प्रयास किया। जो उनके प्रगतिशीलता और यथार्थवाद का सच्चा प्रमाण है। मुक्तिबोध अपने चिंतन प्रक्रिया में कहते हैं, “कोई भी दृष्टिकोण, यानि कोई भी साहित्यिक ‘वाद’ तभी तक ठीक है जब तक वह जीवन की चेतना से परिपूर्ण है। यथार्थवाद जिसे आजकल वर्गवादी प्रगतिवाद कहते हैं, तभी तक ठीक है जब तक उसका लेखकअपनी स्फूर्ति, वास्तविक स्थिति से पता है।”4 ज़ाहिर सी बात है कि नागार्जुन ने लोक में व्याप्त उन सभी तत्वों कि शिनाख्त की है और अपना जीवन भी उसी तरह जिया है जैसे मुक्तिबोध का चिंतन है। अजय तिवारी का कहना है, “जीवन की विपुल अनुभव-राशि किसी कवि की चेतना को किस रूप में ढ़ालती है, नागार्जुन की कविताएँ इसका अकाट्य उदाहरण हैं।”5 नागार्जुन ने अपनी कविताओं का कथ्य-रूप और यथार्थ जनता को केंद्र मे रख कर गढ़ा है। जैसा कि नामवर सिंह ने कहा है, “नागार्जुन स्वाधीन भारत के प्रतिनिधि जनकवि हैं।”6 बिलकुल ‘तरल आवेगोंवाला, अतिभावुक, हृदयधर्मी जनकवि।’ नागार्जुनअपनी इसी जनवादिता के कारण काव्य कला के शुरुआती दौर से ही शासन पर तीखा प्रहार करना शुरू कर चुके थे और अंतिम तक करते रहे । वे जनता के हित के लिए जन आंदोलनो और किसान आंदोलनों में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेते थे।उनकी यह क्रांतिकारिता जवानी से लेकर बुढ़ापे तक बनी रही। बल्कि यूँ कहें कि इनकी काव्य दृष्टि में समाज की हर गतिविधि जो समाज के लिए दुष्कर है, वह क्रांति बोध में निखरती गई। क्योंकि काव्य दृष्टि में हम कवि के सामाजिक संबद्धता को देखने और परखने की कोशिश करते हैं। वह इसलिए कि कवि की दृष्टि समाज को किस रूप में देखती है कि कवि कितना सामाजिक है। जिससे यह स्पष्ट हो सके कि कवि अपने इतिहास और वर्तमान से कितना जुड़ा है जिससे कवि की चिंतन धारा या काव्य दृष्टि समझी जा सके। चूँकि यह तभी परिभाषित हो सकता है, जब कवि की काव्य दृष्टि समाज को लेकर प्रतिबद्ध हो, संवेदनशील हो, श्रम में सौंदर्य की परख रखता हो, संस्कृतियों की शिनाख्त करता हो और इतिहास को खंगालता हो। कहने का आशय यह है कि कविता में समाज को यथार्थ रूप में अपनी पूरी इतिहास दृष्टि और यथार्थ के साथ प्रस्तुत

करता है अथवा नहीं। जो कवि का धर्म है।अजय तिवारी का कहना है, “देश की साधारण जनता से कवि लगाव जितना गहरा और आत्मीय होगा कवि के वर्ण और आस्वाद में उतनी विविधता होगी, कवि की संवेदना उतनी ही सघन होगी, कविता का यथार्थवाद उतना ही गंभीर होगा और काव्य की जीवनीशक्ति उतनी ही दुर्दम होगी।”7 नागार्जुन के कविताओं में अजय तिवारी के इस कथन को भलीभाँति देखा जा सकता है। बल्कि यूँ कहें कि कविता और जीवन दोनों में देखा जा सकता है।हालाँकि मुक्तिबोध इस तरह की कविताओं से इत्तेफ़ाक नहीं रखते है, “साहित्य का उद्देश्य सांस्कृतिक परिष्कार है, मानसिक परिष्कार है। किन्तु यह परिष्कार साहित्य के माध्यम द्वारा तभी संभव है जब स्वयं सुननेवाले या पढ़नेवाले की अवस्था शिक्षित (की) हो।”8 जबकि मुक्तिबोध के एकदम विपरीत हैं नागार्जुन। वह जनता के लिए जनता से होकर गुजरने वाले कवि हैं और उनकी रचनाएँ भी जनता के लिए और जनता से होकर गुजरती हैं। अब वह जनता शिक्षित और अशिक्षित दोनों हो सकती है उसमें विभाजन की लकीर नहीं खींची गई है नागार्जुन की ओर से जैसा कि मुक्तिबोध खीचते हैं। इसलिए इनकी कविताओं में अपनेपन का एहसास झलकता है। नागार्जुन ने जिस प्रकार की कविताओं की रचना की है उसी तरह का जीवन भी जिया है। पूरे भारतीय जन-मन के मनोदशा और सामाजिक सरोकार को समझकर कविताएँ लिखी हैं। “नागार्जुन के काव्य का एक महत्त्वपूर्ण गुण है कि उनकी कविता स्थान विशेष की कविता न होकर पूरे हिन्दी प्रांत की और पूरे देश की कविता है।”9 ज़ाहिर सी बात है नागार्जुन की हाशिये संबंधी दृष्टि में देश ही नहीं बल्कि देश के बाहर के महाद्वीपों की भी कविताएँ हैं। इसलिए बड़ा कवि वही हो सकता है जो दूर दृष्टि और जीवन दृष्टि रखता हो। जो अपने से इतर सोचता हो। समाज के लिए सोचता और जीता हो।

नागार्जुन ने अपनी काव्य दृष्टि को व्यापक रूप देते हुए अपने इर्द-गिर्द से सम-विषम तत्वों और वस्तुओं को इक्कट्ठा करके अपनी कविताओं में व्यंग्य का प्रयोग बहुत धारदार तौर पर किया है। नेताओं की जमकर ख़बर लेते हैं। उनकी कविता ‘भारत-भूमि में प्रजातंत्र का बुरा हाल है’कविता की एक बानगी देखिए-

“लालबहादुर नीचे, ऊपर कामराज है

इनकिलाब है नीचे, ऊपर दामराज है10

नागार्जुन इन सबकी ख़बर लेते हुए कविता के दूसरे खंड में जनता के पक्ष में बोलने का जो साहस दिखाया हैं वह बेमिसाल है। ऐसा लगता है कि इस अक्खड़पन को देखकर सामने वाले का मुँह झौंवां हो गया हो। झौंवां हो क्यों न? अजगर की तरह अस्सी प्रतिशत जनता का हक़ जो मार बैठे हैं। नागार्जुन की राजनीतिक व्यंग्य प्रधान कविताओं से यह आभास होता है कि वास्तव में इस दुनिया में दो दुनिया हैं, दुनिया है अमीरों और गरीबों की, शोषक और शोषितों की। नागार्जुन ने जिस सामाजिक-आर्थिक विषमता को अपने

कविताओं का विषय बनाया है और उसे जबर्दस्त तरीके से पेश किया है .इसी संदर्भ में अरुण कमल का कहना है, "अपने देश की जनता का दुख-दर्द नागार्जुन के कविताओं में पूरी तीव्रता से व्यक्त हुआ है। खासतौर से गाँवो में रहने वाले गरीबों की ज़िंदगी, उनकी तबाही का बहुत ही मार्मिक चित्रण उन्होंने किया है।"11

नागार्जुन की एक कविता है 'घर से बाहर निकलेगी कैसे लजवंती' अब आप देखिए और सोचिए कि कवि क्या कहना चाहता है? ज़रा 'लजवंती' शब्द पर गौर करिए और देखिए कि नागार्जुन ने इस कविता को कितनी मार्मिकता से एक शब्द पर टिका दिया है और तीव्र स्वर में कहता है कि-

"फटे वस्त्र हैं, घर से बाहर निकलेगी कैसे लजवंती

शर्म न आती, मना रहे वे महँगाई की रजत जयंती"12

नागार्जुन इसी जोश-होश के साथ प्रजातंत्र की ख़बर लेते हुए भारतीय लोकतंत्र के पैरोकारों और देशी सामंतों पर (जिसके उत्पीड़न से उनकी काव्य दृष्टि का निर्माण हुआ) अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए उन्होंने अपनी एक कविता 'प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है' में लिखते हैं-

"प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है मेरे कवि का

जन-जन में जो ऊर्जा भर दे, मैं उद्गाता हूँ उस रवि का।"13

संभवत: नागार्जुन की प्रतिहिंसा भी उनकी क्रांतिकारी चेतना का सकारात्मक पक्ष है। वह अपने रोष और जनता की मनःस्थिति को समझते हैं। इसलिए वे अपने रोष को काव्यात्मक ढ़ंग से प्रस्तुत करके जन-जन में ऊर्जा भरने का प्रयास करते हैं। नागार्जुन के भीतर शासन के प्रति इतना ज्यादा रोष भरा है कि वे यह कहने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते कि खद्दरधारी नेता और सामंतों ने मिलकर प्रजातंत्र का होम कर दिया है। नागार्जुन की अपनी एक कविता है 'प्रजातंत्र का होम' उसमें कवि ने सामंती समाज और खद्दरधारी लोगों की बख़िया उधेड़ कर रख दी है।

"जनकवि हूँ, क्यों चाटूँगा मैं थूक तुम्हारी

श्रमिकों पर क्यों चलने दूँ बंदूक तुम्हारी?"14

नागार्जुन की व्यंगयात्मक शैली का कोई सानी नहीं। उन्होंने मात्र दो शब्दों 'जगत्-तारणी' और 'मुखौटे' से ही पूरा का पूरे नेहरू परिवार और इन्दिरा गाँधी पर व्यंग्य किया है। ऐसा लगता है नागार्जुन नेहरू के शासन काल से संतुष्ट नहीं दिखते हैं। इसलिए इन्दिरा को जगत्-तारणी की उपमा देकर उन पर तीखा व्यंग्य कर रहे

हैं कि अब इनकी बारी हैं, जबकि इनके कई मुखौटे हैं यह क्या जनता के पक्ष में, जनता के लिए करेंगी?अगर करती तो क्या सारा भारत लाठी-गोली का शिकार होता?

कवि इसी विसंगति बोध को देखकर और तीखा व्यंग्य करता हुए लिखता है कि 'नशा चढ़ा था बे अंदाज', 'और बस अंधकार है', इसी अंधकार को वह 'आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी' के रूप में देखता है और जवाहरलाल नेहरू (वह कोई भी व्यक्ति हो सकता है जो सामाजिक हितों और विचारों के निमित्त है) से लेकर भारतीय शासक वर्ग जो रानी एलिज़ाबेथ के स्वागत में खड़े हैं उन पर लक्ष्य करके वह सामाजिक या राजनीतिक परीस्थितियों पर व्यंग्य करता है-

"आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी,

यही हुई है राय जवाहरलाल की15

कवि को अपने इतिहास की समझ है, वह इतिहास को जानता है, वह यह भी जानता है कि, हम आज़ादी से पहले भी औपनिवेशिक सत्ता के गुलाम थे और आज भी वहीं स्थिति है, आज भी भारतीय जनता इनका बोझ ढ़ोए।

किसी भी कवि के काव्यानुभूति से ही उसकी काव्य दृष्टि को जाना जा सकता है। यह काव्यानुभूति कवि अपने देश, काल, वातावरण से इकट्ठठा करता है और शब्दों के माध्यम से लयबद्ध करता है। यह लयबद्धता उसके स्वयं के अनुभव पर टिकी होती है। इसी लयबद्धता या काव्यानुभूति से कवि की पहचान की जाती है। यही काव्यानुभूति कविता की सर्जना शक्ति भी होती है। प्रो. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, "किसी कविता की शक्ति की पहचान का एक आधार यह है कि उसकी काव्यानुभूति की संस्कृति का स्वरूप क्या है?जो कवि अनुभव के स्तर पर ज़िंदगी की विविधता से जितनी गहराई से जुड़ा होता है उसकी काव्यानुभूति की संस्कृति उतनी अधिक समृद्ध होती है।"16 ज़ाहिर सी बात है कि इस काव्यानुभूति की संस्कृति को नागार्जुन के यहाँ स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उनकी कविताएँ इसका जीता-जागता प्रमाण हैं। इतना ही नहीं उनका ठेठ देशीपन और उनकी कविता की बानगी, भाषा उनके देश काल की पहचान है। लोक की पहचान है। इनकी रचनाओं की ख़ुशबू से अनुमान लगाया जा सकता है कि नागार्जुन किस देश के मानुष हैं, कवि हैं। यहाँ पर नागार्जुन की एक पूरी कविता 'प्रतिबद्ध हूँ' का उदाहरण देखा जा सकता है। जिसमें कवि ने अपनी पूरी ईमानदारी के साथ अपने आप को भौतिक जगत से इस तरह जोड़ा है कि बहुजन समाज, सचर-अचर सृष्टि और परिजन के प्रेम की डोर से निकल पाना मुश्किल है। नागार्जुन की पूरी कविता की बानगी देखिए, जिसके तीन स्तम्भ हैं-

"प्रतिबद्ध हूँ / सम्बद्ध हूँ / आबद्ध हूँ

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ-

बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त-17

प्रगतिशील साहित्य में इस प्रकार की चेतना का होना लाज़मी है, अगर इस प्रकार की चेतना न हो तो प्रगतिशील सौंदर्यबोध की ख़ामी या फिर कवि की कमी मानी जा सकती है। इस कविता मे नागार्जुन ने आदि से अंत तक का जो रेखा-चित्र खींचते हैं. वह देखते ही बनता है, कोई भी तत्व कवि की दृष्टि से ओझल नहीं हुआ है। सबको समेटे हुए एक साथ रहते हैं और बार-बार कहते हैं कि मैं शतधा आबद्ध हूँ अर्थात सौ प्रकार से बंधा हुआ हूँ। जीवन के हर क्षण में, हर लय में, गति में, प्रगति में, दुख में, सुख में, सम्पत्ति में और विपत्ति में। यह है प्रगतिशील कवि का व्यक्तिव और काव्य दृष्टि जो जन-मन से सम्बद्ध होकर अपनी कविताओं का कथ्य बुनता है। कवि की इस तल्लीनता, संवेदना और प्रतिबद्धता को फायरबाख की इस सिद्धान्त को पुष्ट करती है, "मनुष्य को अपनी सर्वसाधारण एवं सार्वभौमिक मानवीयता की चेतना इसी स्वतन्त्रता के कारण प्राप्त होती है; दूसरे शब्दों में, मानव-सुलभ चेतना इसी स्वतन्त्रता में अन्योन्याश्रयता का संबंध होता है। जानवर की चेतना अपने तक ही सीमित रहती है, उसमें व्यापक पशुता की चेतना कभी नहीं आती है। जानवर के बाह्य तथा आंतरिक जीवन में कोई अंतर नहीं होता है, लेकिन मनुष्य का आंतरिक जीवन उसके बाह्य जीवन से भिन्न होता है। मनुष्य के आंतरिक जीवन में उसकी व्यापक मानवता की चेतना प्रबल होती है, न कि उसके विशिष्ट व्यक्तित्व की चेतना। विचारों तथा भावनाओं का मानवीय आंतरिक जीवन प्रत्येक व्यक्ति को उसे मानवजाति-मात्र से संबद्ध किए रहता है। अकेले में भी व्यक्ति मनुष्यता की व्यापक चेतना से भरपूर रहता है; उसके विचारों के अस्तित्व और व्यापार का आधार यही चेतना होती है।"18 नागार्जुन की इसी कविता से हम उनकी प्रकृति चेतना को देख सकते हैं। प्रकृति के प्रति नागार्जुन का भाव बोध क्या है?हालाँकि नागार्जुन की और भी बहुत सी कविताएँ प्रकृति पर हैं, लेकिन 'प्रतिबद्ध हूँ' कविता में कवि की संवेदना और रागात्मकता का रूप ही अलग है। नागार्जुन की प्रकृति संबंधी कविताओं में लोक जीवन का जो दृश्य आया है उसे प्रकृति से अलग करके देखना नाइंसाफी होगी। वह इसलिए कि प्रकृति में ही लोक व्याप्त है। गाँव, खेत-खलिहान, पशु-पंक्षी, नदी-तलाब, रूप-रंग, रस-गंध और पर्वत-पहाड़ सब व्याप्त है। इसलिए इसे प्रकृति से अलग करके देखने के बजाय संपूर्णता में देखा जाना चाहिए। क्योंकि नागार्जुन ने भी कहा है कि 'मेरी भी आभा है इसमें।' गौर करने वाली बात यह है कि

नागार्जुन ने इतने मार्मिक ढ़ंग से प्रकृति और गाँव को केंद्र में रख कर कविताएँ लिखी हैं जो छायावादियों से एकदम अलग हैं। एकदम यथार्थ से लैस। 'बहुत दिनों के बाद' कविता का एक उदाहरण देखिए-

"बहुत दिनों के बाद

अब की मैंने जी-भर भोगे

गंध-रूप-रस-शब्द-स्पर्श सब साथ-साथ इस भू पर

-बहुत दिनों के बाद"19

कवि की यह जीवन दृष्टि अपने गाँव की ओर लौटे हुए व्यक्ति को यह एहसास कराती है। उसे गँवई खुशबू और संस्कृति में घुल जाने का बोध कराती है। गँवई होने का आभास कराती है। इसी संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय का कहना है, "बहुत दिनों बाद कविता में अपने गाँव की प्रकृति और संस्कृति से गहरे लगाव की अभिव्यक्ति है।"20 ज़ाहिर है नागार्जुन के इसी गँवई संस्कृति बोध को लेकर रामविलास शर्मा ने मैनेजर पाण्डेय के एकदम उलट कहा है, "नागार्जुन मूलतः ग्राम कवि हैं।"21

नागार्जुन की काव्य चेतना ठहरा हुआ पानी नहीं है जिसमें बुलबुले निकले हुए हो। बल्कि उनका काव्य, सागर जैसी अथाह और असंख्य नाड़ियों को समाहित करने की क्षमता रखता है। उनकी काव्य दृष्टि जल प्रवाह की तरह है जिसे वह अपने भीतर समाहित कर लेते हैं और उसे अपने अनुभव और पद्धति के माध्यम से नया रूप देते हैं। इनकी चिंतन धारा में यथार्थ और इतिहास की झाँकी आसानी से देखी जा सकती है। प्रेम की झलक देखी जा सकती है। लेकिन हिन्दी साहित्य के आलोचकों की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि वह किसी भी कवि के विविध पक्ष को न देखते हुए उसे बस एक खाँचे/साँचे में ही रखकर देखते हैं, न की सम्पूर्णता में। सवाल यह है कि क्या किसी कवि का सम्पूर्णता में मूल्यांकन न करना उसके साथ नाइंसाफ़ी नहीं है?यही दृष्टि नागार्जुन के साथ अपनाई गई। सवाल यह है कि क्या कोई कवि अपने सामाजिक सरोकारों और रूप-रस-प्रेम से कट सकता है?क्या नागार्जुन के प्रेम संबंधी कविताओं से उनकी प्रगतिशीलता कमतर आँकी जा सकती है?ज़ाहिर सी बात है नागार्जुन को अपनी प्रगतिशीलता का भान है। वह यह भी जानते हैं कि प्रेम ही दुनिया को एक मुहाने पर लाकर खड़ा कर सकता है। चाहे वह पति-पत्नी में हो, प्रेमी-प्रेमिका में हो, शत्रु-शत्रु के बीच हो या फिर देश-विदेश से हो। इसलिए नागार्जुन की काव्य दृष्टि में प्रेम रूपी स्वर मिलता है। बहरहाल, नागार्जुन की एक कविता है, 'आओ प्रिय, आओ' कवि की इस कविता में मित्र-प्रेम झलक रहा है। मित्र से बहुत दिनों बाद मुलाक़ात हो रही है, वह रूठा है। कवि आग्रह करता है कि मेरी सारी गलतियों को भुला दो और मुझसे कुछ बातें करो। एक उदाहरण देखिए-

“आओ प्रिय, आओ!

बहुत दिन हो गए,

आज फिर साथ-साथ बैठे घड़ी-आध घड़ी

ऐसी भी नफ़रत क्या !

इतना भी अलंघ्य है विरक्ति का प्राचीर?”22

नागार्जुन ने प्रेम कविताओं के जरिए जो दुनिया बनाई है उसमें प्रवेश करने पर नाना रूपी प्रेम दिखाई देता है। कहीं पति-पत्नी प्रेम ‘सिंदूर तिलक भाल’ में दिखाई देता है तो कहीं ‘यह दंतुरित मुस्कान’ पुत्र-प्रेम के रूप में दिखाई देता है। इसके अलावा भी अन्य कविताएँ हैं जिसमें ‘प्रत्यावर्तन’, ‘उन्हें प्रणाम’, ‘तुम किशोर तुम तरुण’ से लेकर ‘क्या अजीब नेचर पाया है’ तक का सफर तय करते हुए दूर तलक निकल जाते हैं।

नागार्जुन ने अपने काव्य दृष्टि में ‘हाशिये के समाज’ की संवेदना को उजागर करते हुए वे सब कुछ कह जाते हैं। जो हाशिये के समाज के साथ हो रहा है या फिर जिस तरह वह अपना जीवन यापन कर रहा है। वे खुद को हाशिये का अंश मानते हुए अपनी भी आभा उसमें देखते हैं और पूरी सहजता बोध और निडरता के साथ बिना संकोच के पूरे आवाम के सामने अपनी पूरी ज़िंदगी का जिक्र करते हैं। इस कथा में हाशिये का समाज शामिल हैं जो इस पूंजीवादी, विध्वंसकारी, युद्धकारी, पुरोहितवाद और दलदली राजनीति के शिकार हैं। जो इन सबसे दुखी हैं। कहने का आशय यह है कि दुनिया का वह समाज जो इन अराजक तत्वों से उत्पीड़ित है, उन सबका जिक्र नागार्जुन ने किया है। देखिए-

“अमन-चैन को कैसे मैं कड़ियों में बांधूँ!!

मैं दरिद्र हूँ

पुश्त-पुश्त की यह दरिद्रता

कटहल के छिलके-जैसी जीभ से मेरा लहू चाटती आई !

मैं न अकेला मुझ जैसा तो लाख-लाख हैं, कोटि-कोटि हैं23

अब आप देख सकते हैं कि कवि सर्वजन हिताय और सर्वजन सुखाय की बात कर रहा है। लेकिन वह यह भी कहने से अनभिज्ञ नहीं है कि इस दानव दल में जो लोग इनकी मार से त्रस्त है, उन पर शांति की कविता कैसे लिखूँ?नागार्जुन की कविताओं में सामाजिक दायित्व बोध का एहसास होता है।

नागार्जुन के काव्य भाषा का स्वरूप एकदम अनोखा है। वे चार-चार भाषाओं (संस्कृत, हिन्दी, मैथिल, बंगला, गुज़राती) के प्रकांड विद्वान थे। उनकी कविताओं में इन भाषाओं का प्रयोग देखा जा सकता है। जिस प्रकार नागार्जुन को जन कवि कहा जाता है, नागार्जुन ने उसी अंदाज़ में जनता की भाषा का प्रयोग करते हुए जनता के लिए ही लिखा है। उन्होंने भाषा को जिधर से चाहा है उधर से मोड़ा है। उसका विस्तार किया है। यूँ कह लें कि हिन्दी भाषा को सहज-सरल बना दिया है। इनका यह सहज-सरल भाव विविधता के वजह से है। क्योंकि इनके यहाँ सम्पूर्ण समाज का जिक्र है इसलिए जितनी विविधता उतनी बातें और उतनी बोली-भाषा नागार्जुन के यहाँ हैं। भाषा और बोली का विराट उत्सव नागार्जुन के यहाँ मौजूद है। जो हिन्दी भाषा के वास्तविक दुनिया से हमारा मुखातिब करवाता है। अरुण कमल का कहना है, “नागार्जुन को पढ़ने का अर्थ है हिन्दी भाषा के वास्तविक जगत् में लौटना, हिन्दी के निजी स्वरूप और संस्कारों से परिचित होना।”24 अरुण कमल की यह टिप्पणी नागार्जुन के काव्य भाषा पर बहुत ही सटीक बैठता है। नागार्जुन काव्य भाषा की तरावट जातीय संस्कृति का बोध कराती है। क्योंकि उनकी बोली और भाषा के स्वर काफी मिला जुला रूप हमें देखने को मिलती है। इनकी यही बोली और भाषा, इनके काव्य में लयबद्धता और छन्दबद्धता को कायम रखती है। उसे और मीठी बनाती है। पाठक वर्ग को आकर्षित करती है। इनकी यह लयबद्धता और छन्दबद्धता कभी-कभी टूट कर गद्यकविता या कह लें कि छन्द मुक्त कविता का रूप धारण कर लेती है। नागार्जुन की यह विशेषता देखते ही बनती है, कि किस तरह ये एक ही कविता में भाषा को किस-किस रूप में पेश करते हैं। नागार्जुन की इस तरह की तमाम कविताएँ हैं। ‘हरिजन-गाथा’, ‘खिचड़ी विप्लव देखा हमने’, ‘कंचन-मृग’, ‘वो अंदर से बाँस करेंगे’, जैसी कुछ कविताएँ देखी जा सकती हैं। जिसमें नागार्जुन की लयबद्धता किस तरह टूटी-बिखरती और जुड़ती है यह नागार्जुन के यहाँ ही संभव है। इनकी छन्दबद्धता प्रयोगशीलता और नएपन का एहसास दिलाती है। जबकि इनकी गिनती प्रगतिशील कवियों के संदर्भ में होती है फिर भी प्रयोग की कलात्मक संस्कृति नागार्जुन ने अपनी कविताओं में खूब किया है। असल में नागार्जुन की यह संस्कारी पदावली तेवर आम जनता से लेकर शिष्ट जनता के भीतर ऐसा समाया है कि आदमी उसको पगडंडी से लेकर क्रांति के सफर तक गाता और गुनगुनता है। इनकी यही लोकप्रियता और कलात्मक सौन्दर्य हिन्दी कविता की संवृद्धता को सँजोए हुए है।

नागार्जुन का काव्य-संसार इतना विविधता से भरा पड़ा है कि वे समाज के हर वर्ग-समुदाय के समीप चले जाते हैं और वहाँ से भाषा का रूप लेकर कविता रचते हैं। जिससे उनकी कविताओं में संगीतमयता का उल्लेखनीय स्वर देखने को मिलता है। भले ही नागार्जुन की कविताओं में छन्दमुक्तता, ऊबड़-खाबड़पन और तीव्र आवेग दिखाई देता है लेकिन उसका भी एक रस है। फॉर्म है। जो कवि के भावानुभूति और जीवन की वास्तविकताओं के बोध की विविधता तथा व्यापकता से संभव होता है। स्वयं

नागार्जुन ने अपने विषकीट निबंध में कहा है, "भारतीय काव्य समीक्षा में नौ रस माने गए हैं। परंतु अपनी कटु-तिक्त-चरपरी रचना के सिलसिले में मुझे एक और ही रस की अनुभूति होने लगी। यह था विक्षोभ रस।"25 असल में यह विक्षोभ रस कवि के भीतर तब पैदा होता है जब समाज की सड़ी-गली मान्यताओं, बहुजन समाज की दुर्दशा, विपन्नता, दरिद्रता, भुखमरी, अज्ञानता, गुलामी और बेरोजगारी को देख और भोग कर ही उत्पन्न होता है। नागार्जुन ने इस जीवन को देखा और भोगा है। इसलिए उनकी कविता में यह रस अनायास ही नहीं आया है।

इस तरह नागार्जुन अपने कालखंड (प्रगतिशील कविता) के सबसे यथार्थवादी कवि के रुप में हमारे समक्ष मौजूद हैं। उनकी यथार्थ चेतना में केवल बौद्धिकता ही नहीं बल्कि उसमें उनका भावबोध, उनका रागात्मक अंत: संसार पूरी तरह विद्यमान है। इसीलिए वे मानव जीवन का यथार्थवादी इतिहास पेश किए हैं। अपनी कविताओं में उन सबको स्थान दिए हैं। जिसके बिना इनकी काव्य सर्जना अधूरी रहती। नागार्जुन ने लोक का मर्म समझ-बूझकर उसको अपनी कविताओं में स्थान दिया है जो उनकी काव्य दृष्टि का मूल आधार है। दूसरे शब्दों में कहें तो जीवन के हर पहलू को और समाज के हर चरित्र और प्रकृति को छूने और पकड़ने की कोशिश की है। इन्होंने विश्व राजनीति से लेकर राष्ट्रीय राजनीति तक का सफर तय किया है। जिसमें इन्होंने सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हुए अपने काव्य जगत में यह दर्शाया है कि हमारे भूखंड पर किस-किस प्रकार के अराजकतावादी तत्व मौजूद हैं। नागार्जुन ने राजनीति की उथल-पुथल, विचारधाराओं का संघर्ष तथा उत्थान और पतन, साहित्य-संस्कृति और कला के क्षेत्र में अवधारणात्मक बदलाव, सामंती व्यवस्था का रूप और चरित्र का बदलता स्वरूप, उपभोगतावादी समाज में वर्गान्तरित होता मजदूर वर्ग, नवपूँजीपतियों की बढ़ती हुई संख्या, भारतीय राजनीति में भ्रष्टाचार का बढ़ता हुआ दल, दिन-प्रतिदिन बढ़ता खोखले बुद्धजीवियों का समुदाय और विश्वसनियता खोता बुद्धजीवियों का समुदाय, अय्याशी परस्त जीवन यापन करने वाला जनसमूह, संस्कृति के नाम पर नवभिजात्य वर्ग का उपभोगवादिता और परजीवीपन, लोक विरोधी कलाकारी और साहित्य वाद की उपज, रोज-रोज मजदूर वर्गों की बढ़ती मुश्किलें और उनके जीवन यापन का प्रबंध न कर पाने की नकाम कोशिश करने वाले राजनेता, संगठित होते नवदल सामंती उनको 'दीवक' की तरह चूस रहे हैं। मजदूर और किसान इनकी चंगुल में जकड़े हुए हैं। तानाशाही और नौकरशाही इनके सामने घुटने टेक कर 'सिजदा' और 'पायबोस' का राग अलाप रहे हैं। जबकि इनका धर्म है लोक हित और लोक रक्षा। यह है प्रगतिशील लेखन और लेखक का कर्तव्य जो अपनी प्रगतिशीलता के स्तर पर जीवन के हर पहलू को छुए। समाज के जीवनानुभव से होकर गुजरे। यही काम नागार्जुन ने अपनी कविताओं में किया है। वह चुप नहीं रहें बिना लाग-लपेट के सच को सच कहने का दावा पेश किया है। ऐसा नहीं कि आँखों पर पट्टी बाधकर विमुख होकर निकल गए हों। बल्कि अपना नैतिक धर्म का पालन

करते हुए वह मुँह खोलना ही उचित समझते थे। इसी प्रकार की निडरता और फक्कड़पन भरा अंदाज केदारनाथ अग्रवाल, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जैसे कवियों की एक पूरी बिरादरी ही इस त्रास को लेकर क्षोभ और वेदना से ग्रस्त है। इसी क्षोभग्रस्तता को नागार्जुन ने तोड़ा है। अस्सी प्रतिशत जनता का कवि होते हुए। बहुजन समाज के प्रति प्रतिबद्ध होकर। अपने फक्कड़पन के अंदाज में कबीरपंथी अंदाज में निर्भीक और बेलिहाज होकर।

संदर्भ ग्रंथ-सूची-


1. समकालीन भारतीय साहित्य, जनवरी-फरवरी, 2017, अंक-189.
2. केदारनाथ सिंह, मेरे समय के शब्द, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1993, पृ. सं. 56.
3. नागार्जुन रचनावली भाग-6, सं. शोभाकांत, राजकमल प्रकशन, दिल्ली, 2011, पृ. सं. 285.
4. सम्पादन- चन्द्रकान्त देवताले, डबरे पर सूरज का बिम्ब, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 2012, पृ. सं. 5.
5. अजय तिवारी, नागार्जुन की कविता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ. सं. 30.
6. संपादक- आशीष त्रपाठी, जमीन की कविता और कविता की जमीन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. सं. 168.
7. अजय तिवारी, नागार्जुन की कविता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ. सं. 29.
8. संपादक-चन्द्रकान्त देवताले, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2012, पृ. सं. 13.
9. अजय तिवारी, नागार्जुन की कविता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ.सं. 29.
10. नागार्जुन रचनावली-1, सम्पादन-शोभाकांत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ. सं. 399-400.
11. अरुण कमल, कविता और समय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. सं. 36.
12. नागार्जुन रचनावली-2, सम्पादन-शोभाकांत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ. सं. 59-60.
13. वही, पृ. सं. 232.
14. वही, पृ. सं. 94.
15. वही, पृ. सं. 347.
16. संपादक-आशीष त्रिपाठी, कविता की जमीन और जमीन की कविता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. सं. 177.
17. संकलित निबंध: मैनेजर पाण्डेय, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ. सं. 167.
18. नागार्जुन रचनावली-2, सम्पादन-शोभाकांत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ. सं. 130-131.

19. व्रजकुमार पांडेय, मार्क्सवादी चिंतन, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2006, पृ. सं. 153.

20. नागार्जुन रचनावली-1, सम्पादन-शोभाकांत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ. सं. 316-317.

21. मैनेजर पाण्डेय, संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2011, पृ. सं. 170.

22. रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृ. सं. 161.

23. नागार्जुन रचनावली-1, सम्पादन-शोभाकांत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ. सं. 391392.

24. अरुण कमाल, कविता और समय, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृ. सं. 30-31.

25. नागार्जुन रचनावली भाग-6, सम्पादन, शोभाकांत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. सं. 283

(शोध आलेख)

# कुमार अंबुज की कविता और उनका आत्मसंघर्ष

यशवंत

सूर्यकांत त्रिपाठी अपनी 'सरोज स्मृति'(1935) कविता में लिखते हैं; 'मैं कवि हूं,पाया है प्रकाश' जो इस बात का संकेत करती है कि कविता, कवि तथा प्रकाश के मध्य एक मधुर संबंध होता है। कविता एक ओर जहां पाठक को अपने समय के प्रति सचेत करती है वहीं दूसरी ओर उसे सन्मार्ग पर चलने के लिए उद्वेलित भी करती है। इस तरह कविता अपने एकाकी दृष्टि में तो केवल 'कला के कर्तव्य' का निर्वहन कर रही होती है लेकिन इसके समानांतर वह सामाजिक सुधार जैसे महत्वपूर्ण कार्य भी कर रही होती है।

कुमार अंबुज कविता व कवि के उपर्युक्त सिद्धांतों पर खरे उतरने वाले महत्त्वपूर्ण समकालीन कवि हैं।1988 में उनकी कविता 'किवाड़' के लिए उन्हें भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार मिला और इसी नाम से इनकी पहली कविता संग्रह 1992 में छपी। कुमार अंबुज की कविता में विषयों की विविधता है, शोषित वर्ग के प्रति गहरी संवेदना है,अपनी जड़ों के प्रति आभार है,जीवन के प्रति गहरी आस्था है और एक लेखकीय जिम्मेदारी का सत्यनिष्ठ निर्वहन भी। उनकी भाषा में प्रयुक्त बिम्बों में पैनापन है प्रतीकों में धार है और भाषा में तेजी है।'खाना बनाती स्त्रियां' नामक कविता में वे लिखते हैं...

"आपने उन्हें सुंदर कहा तो उन्होंने खाना बनाया और डायन कहा तब भी
उन्होंने बच्चे को गर्भ में रखकर खाना बनाया फिर बच्चे को गोद में लेकर
उन्होंने अपने सपनों के ठीक बीच में खाना बनाया
तुम्हारे सपनों में भी बनाती रही खाना"

कुमार अंबुज समकालीन हिंदी साहित्य के प्रतिनिधि कवि हैं। कुमार अंबुज के कवि दृष्टि की पहुंच स्थूल विषयों के साथ-साथ सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विषयों तक है यह उनके काव्य में प्रयुक्त विषयों के वैविध्य व बिम्बों के वैचित्र्य व गहनता से प्रमाणित होता है। कुमार अंबुज के बारे में विचारते हुए 'विष्णु खरे' लिखते हैं...

*"कुमार अंबुज की खूबी यह भी है कि उनमें एकतानता नहीं है।कुछ अंतरंग रस की कविताओं में भी वे शहर ले आते हैं वे उस बॉलर की तरह है जो बहुत कम लूज बॉल करता है और हर गेंद में एक्शन, रफ्तार, फ्लाइट, लंबाई, स्पिन, डायरेक्शन, दूसरा आदि की एक न एक बारीक वैरिएशन हासिल कर लेता है।"*

कुमार अंबुज अपनी कविताओं में पाठकों से एक साथ संवाद स्थापित करते करते उसी के बीच एक महत्त्वपूर्ण बात कह जाते हैं जो पाठक के मन को कुरेद जाती है। 'भरी हुई बस में लालसाफे वाला आदमी' नामक कविता में वे लिखते हैं...

*"पूछना चाहता है लालसाफे वाला आदमी*
*जब वोट डालने के लिए चलना पड़ता है*
*सिर्फ दो मील*
*तो इलाज कराने के लिए बीस मील क्यों?"*

ग्रामीण जीवन की याद और शहरों की ओर पलायन का दुःख उनकी कविताओं में सहजता से आता है। शहरी होने की विवशता में भी गांव की धड़कन उनकी कविताओं के हृदय में धड़कती रहती है। 'जरा सी देर में' कविता में वे लिखते हैं...

*"नौकरी खोजते हुए भूल गया मैं*
*गेहूं-चने के खेत*
*मेथी की भाजी और एक कोस*
*दूर कुएं का पानी"*

कवि अपने समय की अनुभूतियों से गढ़ा जाता है। कुमार अंबुज की कविता में उनका समय अपने पूरे अवकाश (स्पेस) के साथ अभिव्यक्त होता है। एलपीजी सुधारों और उनकी जड़ों को भारत-भू पर फैलते हुए कुमार अंबुज ने देखा है और प्रत्यक्षतः अनुभूत किया है निश्चित ही इन सुधारों का एक पहलू यह भी है कि इनसे 'इंडिया' और 'भारत' के बीच का अंतर बढ़ा है। 'नींद और नींद के बाहर' कविता में वे लिखते हैं...

*"झर रहे हैं अनाज के दाने*
*भूख का सपना*
*नींद के चमकदार सूप में झड़ रहा है*
*और दानों के फटके जाने की आवाज पूरे ब्रह्मांड में*
*गूंज रही है।*
*नदी एक आंसू है पृथ्वी की गाल पर बहता हुआ।"*

मध्यवर्ग की चिंता भी कुमार अंबुज के काव्य में पर्याप्त जगह पाती है। मध्य वर्ग जो प्राइवेट अस्पतालों की भारी भरकम फीस को वहन करने में सक्षम नहीं है, वहीं सरकारी अस्पतालों की दुर्दशा भी उसे निढाल बना रही है। 'असाध्य रोग' नामक कविता में कुमार अंबुज लिखते हैं...

*"आंसुओं से कोई दवा तैयार हो सकती होती तो*
*कोई रोग असाध्य नहीं रह जाता।"*

कुमार अंबुज की कविताएं बहुत बार सीधा निष्कर्ष नहीं देती। वह पाठक की साहचर्यता व उसके पाठकीय दायित्व पर विश्वास करती हुई पाठक के लिए खुला अवकाश छोड़ती हैं ताकि पाठक भी कुछ देर लेखक की अनुभूतियों के साथ समय गुज़ारे व कविता के मायने तलाशे। 'जब दोस्त के पिता मरे' नामक कविता में लिखते हैं...

*"बारिश हो रही थी जब दोस्त के पिता मरे*
*भीगते हुए निकली शवयात्रा बारिश की वजह से नहीं*
*आए ज्यादा लोग*
*जो कंधा दे रहे थे एक तरफ से भीग रहे थे कम*
*सबसे पहले बारिश होती थी दोस्त के पिता पर।"*

उपभोक्तावाद,बाजारीकरण व नगरीकरण की संस्कृति ने उत्तरोत्तर मनुष्य को खोखला ही बनाया है। टारगेट पूरा करता हुआ आदमी अपना ही जीवन जीने के लिए अपने बॉस के परमिशन का गुलाम है। हर तरह से बेचैन व पराजित मनुष्य इसी तरह जीने के लिए अभिशप्त है। 'इधर का जीवन कविता' में कुमार अंबुज लिखते हैं...

*"इधर का जीवन हो गया है कुछ ऐसा*
*कि हर पन्द्रह मिनट बाद*
*टटोलकर ढूंढनी होती है जीवन की धड़कन।"*

कुमार अंबुज की कविता में एक बेचैनी साफ तौर पर देखी जा सकती है। यह बेचैनी भले ही उनके व्यक्तिगत अनुभूतियों और अतीत की स्मृतियों से संचित हो किंतु इस बेचैनी में एक तरह की सार्वजनिकता भी है जिस कारण इनकी कविता महत्त्वपूर्ण हो जाती है।'रात तीन बजे' कविता में वे लिखते हैं...

*"एक आवाज आती है*
*रात तीन बजे की नींद में*
*यह कुएं में बाल्टी डूबने की आवाज है*
*या बिल्ली बगल की छत पर कूद गयी है*
*या कि एक औरत ने अपना रोना तेजी से रोक लिया*
*है"*

रात तीन बजे की नींद (जिसमें पूरी दुनिया मगन होकर सोती है) में कवि को आवाज़ आना उसकी बेचैनी का द्योतक है। यह बेचैनी व्यर्थ नहीं है बल्कि एक जिम्मेदार देश के जिम्मेदार नागरिक की बेचैनी है। अतः इस तरह की बेचैनी हर नागरिक में होनी चाहिए और रात के तीन बजे उसे नींद में एक आवाज़ आनी चाहिए जिससे यह भान हो सके कि वह सही मायने में अपने आसापास की दुनिया में जीवित भी है। एक औरत के द्वारा रात के तीन बजे अपना रोना तेजी से रोक लेने में इस देश की सारी औरतों की पीड़ा छिपी हुई है जिसमें एक सामाजिकबोध भी है,जिस कारण वह अपने रोने की आवाज के कारण किसी की नींद बचा लेने की भी कोशिश करती हुई दिखाई देती है।

अंबुज की कविता में पुरानी चीजों के प्रति एक जुड़ाव भी दिखाई देता है और वे झूठे आधुनिकताबोध से ग्रसित नहीं होना चाहते। यह आधुनिकता की होड़ में एक जागृत कवि के पिछड़ जाने का प्रतीक नहीं है बल्कि आधुनिकता की कुरूपता को त्यागकर अपनी जड़ों में जीवित रहने की कोशिश का प्रतिफल है। 'किवाड़' कविता में वे लिखते हैं...

*"इन किवाड़ों पर चंदा सूरज और*
*नागदेवता बने हैं*
*एक विश्वास और सुरक्षा खुदी हुई है इन पर*
*इन्हें देखकर हमें पिता की याद आती है*
*भैया जब इन्हें बदलवाने को कहते हैं*
*मां दहल जाती हैं और*
*कई रातों तक पिता उनके स्वप्नों में आते हैं*
*जब ये नहीं रहेंगे*
*घर घर नहीं रहेगा"*

पूंजीवादी दौर में वस्तुएं केवल धन का प्रतिस्थापन हैं। उनके प्रति कोई श्रद्धाभाव नहीं है जबकि भारतीय संस्कृति में चीजों के साथ भी जो निर्जीव ही क्यों न हों एक लगाव है, एक जुड़ाव है। इसके पीछे एक गहरा दर्शन है जो सहअस्तित्व की बात करता है। वर्तमान समय में जब अलग-अलग सांचों में नये डिजाइन के अंतरर्राष्ट्रीय दरवाजे गढ़े जा रहे तब कवि का किवाड़ बचा लेने की संघर्ष उस हर छोटी-छोटी चीजों को बचा लेने के संघर्ष का द्योतक है। किवाड़ केवल लकड़ी का बना एक सांचा भर नहीं है बल्कि जब घर का मुखिया सुबह-सबेरे अर्थोपार्जन के लिए निकलता है तो इन्हीं किवाड़ों की ओट से घर के बच्चे शाम को उसके आने की राह तकते हैं। इस घर में जो कोई भी जो कुछ भी आता है इन्हीं किवाड़ों से आता है। मामा भी।

अपने अतीत की स्मृतियां बार-बार कवि की कविता में उभरती हैं। ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने अतीत को भले ही औरों की तरह एक प्रवाह और अनजानेपन में गुजार दिया हो लेकिन अपनी आज की स्मृतियों में अतीत की हर घटना को व्यवस्थित तरीके से संजोया है जिससे वर्तमान में वे खुद भी सीख लेते रहते हैं और आज की पीढ़ियों के लिए उस अवसर की उपलब्धता की संभावना भी पैदा कर पाते हैं जो कवि अपने खुद के जीवन में नहीं जी पाया और जिसे आज की नई पौध को अवश्य जीना चाहिए। 'जरा सी देर में' कविता में वे लिखते हैं...

*"जरा सी देर में बड़ा हो गया मैं*
*और गांव के सिवान से बाहर निकल आया*
*शहर की लड़की से प्यार किया*
*और जरा सी देर में वह लड़की*
*लिपिस्टिक की दुनिया में गायब हो गयी*
*जरा सी देर में मैं शराब पीने लगा*
*कॉलेज की आखिरी साल की परीक्षा से भाग आया*
*नौकरी खोजते हुए भूल गया मैं*
*गेहूं चने के खेत मेथी की भांजी और*
*एक कोस दूर कुएं का पानी"*

उपर्युक्त कविता में कवि अपनी पूरी जीवन यात्रा को जरा सी देर में ही खत्म कर देते हुए दिखाई देते हैं। यह जीने की जल्दबाजी नहीं है बल्कि विस्तारपूर्वक जीवन जीने का दर्शन है। जीवन सच में बहुत क्षणिक है। बचपन, युवावस्था, गृहस्थी से वृद्धावस्था कब आ जाता है पता नहीं चलता। महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है बल्कि महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस छोटे से जीवन को भी यदि सलीके से जिया जाए तो यह बड़ा बन

सकता है। सलीके से जीने के लिए हमें जीवन को जीवंतता प्रदान करने वाली चीजों में विश्वास करना होगा। जीवन को जीवंत शहर, शराब, लिपिस्टिक, नौकरी आदि नही बल्कि गेहूं-चने के खेत, मेथी की भाजी और कुंए का पानी बनाते हैं। बस खुद इनमें विश्वास रखिए और दुनिया को ढर्रे पर जीने दीजिए या आगाह करते रहिए।

वर्तमान समाज और जीवन में प्रचलित क्रूरता के बारे में भी कुमार अंबुज ने खुलकर लिखा है। इस समय और इस देश में जब भातृत्व भाव,समरसता और सामासिक संस्कृति के उन्नयन का समय है तब हम लड़ रहे हैं। दूसरों को नीचा दिखाने की हरसंभव कोशिश में लगे हुए हैं। इस बीच शायद हम यह भूल रहे हैं कि हम जिस चीज के बने हैं वह ह्रासमान है। हमारी देह के रक्त और मांस-मज्जाएं जिस चमकदार चमड़े से ढकी हुई हैं, वह एक दिन झूल जाता है। उसमें झुर्रियां पड़ जाती हैं और एक दिन वह मिट्टी में मिल जाता है। रुपयों से अब तक ऐसी किसी दवा का आविष्कार नहीं किया जा सका है जो व्यक्ति को अमरता प्रदान करे। ऐसी कोई शल्य-चिकित्सा नहीं है जिसमें मृत्यु का आपरेशन हो और जीवन प्रदान किया जाय। 'एक दीवार पर दो तलवारें देखकर' कविता में कुमार अंबुज लिखते हैं...

*"ये तलवारें उजड़ चुके वैभव का चमकदार दुःख हैं*
*रात की गहन चुप्पी में इनकी मूठों से*
*कराह और रोने की मिली जुली आवाज आती है*
*कुछ घुड़सवारों के कटे हुए हाथ*
*तलवारों को रातभर भांजते हैं*
*यह पूरी दीवार इन तलवारों के सहारे है*
*अगर हट गई ये तलवारें तो*
*भरभराकर गिर पड़ेगा यह घर*
*फिलहाल इनके लोहे पर जंग लग चुका है*
*और धार पड़ गयी है भोथरी इतनी कि*
*नहीं काटा जा सकता इनसे एक आलू भी"*

कुमार अंबुज की कविता दृष्टि का दायरा केवल अपने हमउम्र गृहस्थों की बेचैनियों, अपने जी चुके युवा अतीत के प्रति आत्मीयता और वर्तमान जनजीवन की समस्याओं तक ही नहीं है बल्कि उनका विमर्श वृद्धजनों के जीवन को भी छूता है और कवि की परानुभूति उनके दुःखों को भी महसूस करती हुई उन्हें सान्त्वना देती प्रतीत होती है। कई बार सान्त्वना, कुछ करने से भी अधिक जरुरी होती है। 'दो बूढ़ी स्त्रियों का मिलन' कविता में वे लिखते हैं...

*"वे सीधे एक दूसरे के गले लग जाती हैं*
*उनकी आंखों में मोतियाबिंद के धुंधले आंसू चमकते हैं*
*वे कुछ नहीं बोलती बहुत देर तक*
*चिपटाए रहती हैं खुद से खुद को*
*उनकी विधवा पीड़ा बेहद समान बहुत पारदर्शी होती है*
*उनकी भाषा शब्दविहीन दुखों की भाषा होती है।"*

कुमार अंबुज की कविता में नश्वरताबोध भी खुलकर सामने आता है। इनके नश्वरताबोध का दायरा काफी विस्तृत है और यह केवल जीवित प्राणियों तक ही सीमित नहीं है अजीवितों, पुरातनपंथी परंपराओं, किलों और इतिहास की नश्वर परिणति भी अंबुज की कविताओं में दिखाई देती है। 'किला' नामक कविता में वे लिखते हैं...

*"जिस झरोखे से एक-दूसरे को चूमते हुए*
*राजा रानी सूर्यास्त देखते थे*
*वहां पुरातत्व के इंजीनियर ने 'खतरा' लिख दिया है*
*दरकी हुई मीनारों का रंग गहरा काला हो गया है*
*जिधर बाग था उधर एक लंबी डरावनी घास है*
*रात में इधर चोर डाकू भी नहीं आते*
*और दिन में इस किले को देखने के लिए*
*लगता है सिर्फ एक रुपया।"*

शिल्प की दृष्टि से भी कुमार अंबुज की कविता अमूल्य है। उनकी भाषा में आने वाले शब्द अपने विशेष मायनों के साथ आते हैं जो पाठक से विशेष साहचर्य की मांग करते हैं। कुमार अंबुज द्वारा प्रयुक्त बिम्ब मन मस्तिष्क में छपते जाते हैं। प्रतीक योजना कविता की गूढ़ता के रहस्य खोलती हुई कविता की सार्थक दिशा का आश्वासन देती है। 'बारात' कविता में लिखते हैं...

*"रास्तों पर बनते जा रहे हैं*
*चक्कों की निशान*
*लौट रही है बैलगाड़ियों पर*
*गांव की बारात*

*पीतल कांसे के बर्तन*
*निवाड़ का पलंग*
*बछड़े वाली गाय और*
*टीन की एक संदूक पर दहेज लेकर।"*

इस तरह अंबुज की कविताओं में जीवन की धड़कन है, अतीत के प्रति आत्मीयता आभार व सीख है, अपनी संस्कृति के प्रति दायित्वबोध, जिसे कविता के माध्यम से ही सही बचाने का आह्वान वे हम सब से करते हैं। समकालीन कविता की धारा कुमार अंबुज की कविताओं से मजबूत हुई है। जीवन में विश्वास को बल मिला है और प्रेम की विश्वसनीयता भी बढ़ी है।

संदर्भ :-


काव्य संग्रह (कुमार अंबुज)-

1.किवाड़ (1992), राधाकृष्ण प्रकाशन
2.क्रूरता (1996), राधाकृष्ण प्रकाशन
3.अनन्तिम (1998), राधाकृष्ण प्रकाशन
4.अतिक्रमण (2002), राधाकृष्ण प्रकाशन
5.अमीरी रेखा (2011), राधाकृष्ण प्रकाशन
6.उपशीर्षक (2022), राधाकृष्ण प्रकाशन
7.कवि ने कहा (2012), किताबघर प्रकाशन
8.प्रतिनिधि कविताएं (2014), राजकमल प्रकाशन
9.थलचर डायरी विधा (2016), कुमार अंबुज, राधाकृष्ण प्रकाशन
10.मनुष्य का अवकाश, लेख संग्रह, कुमार अंबुज, सेतु प्रकाशन
11.इच्छाएं (2008), कहानी संग्रह कुमार अंबुज राधाकृष्ण प्रकाशन
12.कविता के नये प्रतिमान (1968), नामवर सिंह राजकमल प्रकाशन।


...

(शोध आलेख)

# राष्ट्रीय शिक्षा नीति और आत्मनिर्भर भारत

अमित कुमार यादव

*जौनपुर, उत्तरप्रदेश*

सूचना क्रांति के इस युग में जब भी किसी नई तकनीक ने क्रांतिकारी स्तर पर दस्तक दी है, शिक्षा इसके अनुप्रयोगों में से एक रहा है। साठ के दशक में जब भारत में टेलीविजन युग ने दस्तक दी तो इसे भी **'खेड़ा परियोजना'** के रूप में स्कूली बच्चों के शैक्षिक पाठ्यक्रमों से जोड़कर टीवी चैनलों पर विस्तार दिया गया। गुजरात का खेड़ा जिला जो भारत में शिक्षा को सूचना क्रांति से जोड़ने का प्रथम गवाह बना वह सरदार पटेल के जन्म, गांधी के सत्याग्रह का भी गवाह रहा है। अब एक बार फिर जब भारत सूचना क्रांति के डिजिटल युग पर अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज करा रहा है, हमारी नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति, सरदार पटेल के दृढ संकल्प और गांधी की आत्मनिर्भरता को आत्मसात करते हुए शिक्षा में क्रांति की आधारशिला रखने के रूप में सामने आई है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति- 2020 का खास ज़ोर ऑनलाइन शिक्षा पर है, जिसका आशय कहीं भी, किसी भी समय इंटरनेट व अन्य संचार उपकरणों की सहायता से प्राप्त की जाने वाली शिक्षा से है। ऑनलाइन शिक्षा के विभिन्न रूप है, जिसमें वेब आधारित लर्निंग, मोबाइल आधारित लर्निंग और वर्चुअल क्लासरूम इत्यादि शामिल है। ऑनलाइन व्यवस्था उन छात्रों को एक अवसर प्रदान करता है जो भौतिक रूप से कॉलेज या विश्वविद्यालय तक अपनी पहुंच नहीं स्थापित कर सकते हैं। ऑनलाइन शिक्षा बच्चों को कॉपी-किताब के बोझ से बाहर निकालकर उनके अंदर की रचनात्मकता को बढ़ावा देती है तथा इससे श्रम और समय की भी बचत होती है। यह आज की ज़रूरत है कि जब शिक्षा के पारंपरिक और विशेष साधन सम्भव न हो, वहां हम गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के वैकल्पिक साधनों जैसे- ऑनलाइन शिक्षा के साथ तैयार हों। यह पद्धति उनके लिए प्राणवायु के समान है जो किन्ही कारणों मुख्यतः शारीरिक अक्षमता, स्कूल तक पहुंच, सामाजिक संकीर्णताओं आदि की वजह से स्कूल जाने में असमर्थ है। इससे सकल नामांकन अनुपात में वृद्धि होगी, जो राष्ट्रीय शिक्षा नीति का एक प्रमुख लक्ष्य है।

ऑनलाइन शिक्षा की कुछ विशेषताएं ऐसी भी हैं जो इसे अन्य शैक्षणिक पद्धतियों से बेहतर बनाती हैं। इस पद्धति से उन शिक्षकों के विकल्प के रूप में बेहतर शिक्षक उपलब्ध होंगे जो लापरवाही बरतते हुए अपने शैक्षणिक कर्तव्यों का समुचित रूप से निर्वहन नहीं करते है, जिसका खामियाजा छात्रों को वर्तमान और भविष्य में भुगतना पड़ता है। ऑनलाइन शिक्षा से छात्रों को देश की सर्वोच्च संस्थाओं के कुशल और

सृजनशील शिक्षकों से पढ़ने का मौका मिलेगा। इस पद्धति से **सामाजिक सशक्तीकरण** और शिक्षा के **जनतंत्रीकरण** को बढ़ावा मिलेगा। प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय चाहे वह महिला हो या पुरुष, सशक्त होना चाहता है। उनके इस महत्वाकांक्षा को प्राप्त करने में ऑनलाइन मोड़ बिना किसी पूर्वाग्रह के सहायक होगा। शैक्षणिक जनतंत्रीकरण का तात्पर्य लोगों तक शिक्षा की समान पहुंच से है। इस प्रणाली के मार्ग में कोई भी सामाजिक-सांस्कृतिक कुरीति बाधा नहीं बन सकती है।

ऑनलाइन शिक्षा के समक्ष कई चुनौतियां या बाधाएं हैं, जो इसे भारत जैसे विकासशील देश में लागू करने में समस्या उत्पन्न कर रही है। वर्तमान सरकार और राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 ने इन चुनौतियों का विस्तार से ज़िक्र किया और उससे निपटने के लिए प्रयास करने का सुझाव दिया है, जिससे भारत अपनी तकनीकी और व्यवस्थाओं से आत्मनिर्भर बनने के लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सके और प्रधानमंत्री के विजन 2047 को साकार बनाने में महती भूमिका निभा सके। चुनौती के रूप में एक प्रश्न उठता है कि क्या ऑनलाइन शिक्षा, भौतिक रूप से दी जा रही शिक्षा का स्थायी विकल्प हो सकता है? ऑनलाइन शिक्षा से जिन हानियों के उत्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त की जा रही है उसको दूर करने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति- 2020 में साफ- साफ कहा गया है कि छात्र को उपकरणों की आदत, ई-कंटेट का सबसे पसंदीदा प्रारूप आदि को लाया जाएगा तथा आधुनिक से आधुनिक व्यवस्था और कक्ष व पाठ्यक्रम निर्धारण के लिए NETF, CIET, NIOS, IGNOU, IIT NIT आदि जैसी उपयुक्त संस्थाओं का सहारा लिया जायेगा।

ऑनलाइन शिक्षण प्रणाली में व्यापक स्तर पर **असमानता** दृष्टिगत होती है। सामाजिक और आर्थिक रूप से सशक्त विद्यार्थियों के अनुकूल ही यह पद्धति है। देश का एक बहुत बड़ा तबका जो डिजिटली सम्पन्न नहीं है वह इससे दूर हो जाता है। आंकड़ों की बात करें तो भारत में इंटरनेट पेनिट्रेशन 50 प्रतिशत है यानी भारत की आधी आबादी को ही गुणवतापूर्ण इंटरनेट की सुविधा उपलब्ध है, जो सभी को एक समान ऑनलाइन शिक्षा उपलब्ध कराने में एक बड़ी बाधा है। साथ ही नैटवर्क प्रदाता कंपनियों ने रिचार्ज मूल्य को महंगा कर आम आदमी की पहुंच से बाहर कर दिया है। हालांकि महामारी के बाद तमाम सरकारी प्रयासों के बाद आर्थिक तंगी से लोग बाहर निकल रहे हैं, लेकिन इसके बावजूद अभी लोगों की इतनी क्षमता नहीं हुई है कि वे ऑनलाइन मोड के उपकरण व जरूरी संसाधनों तक अपनी पहुंच स्थापित कर सके। वर्तमान भारत सरकार का हमेशा से ध्येय **'सबका साथ, सबका विकास'** रहा है। इसी समावेशी विकास संकल्पना को ध्यान में रखते हुए सरकार ने वैश्विक महामारी जैसी परिस्थिति से अपनी दूरदर्शी योजनाओं- आत्मनिर्भर भारत अभियान, प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि, प्रधानमंत्री गरीब कल्याण योजना, आयुष्मान भारत, मेक इन इंडिया, कुटीर उद्योगों को बढ़ावा, MSME को प्रोत्साहन आदि के

माध्यम से लोगों को बाहर निकलने में मदद प्रदान कर रही है और आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ने पर जोर दे रही है। इसी क्रम में ऑनलाइन शिक्षा तक लोगों की पहुंच बनाने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति को आधार बनाकर आगामी पांच वर्षों में (2025-26) देश भर के चालीस फीसदी कॉलेज और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों को टैबलेट या लैपटॉप मुहैया कराने पर सहमति व्यक्त की है। डिजीशक्ति मिशन के तहत इस कार्य को तीव्रगति से किया जा रहा है। वर्तमान उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने पिछले कार्यकाल (2017-22) में उत्तर प्रदेश में टेबलेट वितरण का काम कर शैक्षिक सशक्तिकरण प्रदान किया है। इसके अलावा केंद्र सरकार भी विश्वविद्यालयों (जैसे - BHU...) में इस योजना को साकार कर रही है।

**डिजिटल डिवाइड की समस्या** भी व्यापक स्तर पर दिखाई देती है। डिजिटल डिवाइड की स्थिति उसे कहते हैं जब किसी क्षेत्र का एक हिस्सा wifi और संचार उपकरण संपन्न हो जबकि दूसरा हिस्सा सभी अत्याधुनिक सुविधा से दूर है। यह समस्या कोरोना के दौरान मेरे कई सहपाठियों ने उठाई है। इंटरनेट कनेक्टिविटी की समस्या इतने बड़े स्तर पर उभर के सामने आई की खेत-खलिहान के कहीं कोने में नेटवर्क पकड़ता था, ऐसी स्थिति में बहुत सारी समस्याओं का सामना करना पड़ा। यहीं नहीं डिजिटल डिवाइड की स्थिति विश्वविद्यालयों के स्तर पर भी देखने को मिल रही है, कुछ विश्वविद्यालयों में wifi युक्त कैंपस, डिजिटल जागरुकता तो है जबकि कई विश्वविद्यालयों में अब भी इससे कोसों दूरी बरकरार है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में इस डिजिटल अंतर को कम करने को कहा गया है, "इस तथ्य को देखते हुए कि अभी भी जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा ऐसा है, जिसकी डिजिटल पहुँच अत्यधिक सीमित है, मौजूदा जनसंचार माध्यम जैसे टेलीविजन, रेडियो और सामुदायिक रेडियो का उपयोग टेलीकास्ट और प्रसारण के लिए बड़े पैमाने पर किया जाएगा। इस तरह के शैक्षिक कार्यक्रमों को छात्रों की बदलती आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विभिन्न भाषाओं में 24/7 उपलब्ध कराया जाएगा। सभी भारतीय भाषाओं में सामग्री पर विशेष ध्यान दिया। जाएगा और इस पर विशेष बल दिया जाएगा कि जहाँ तक संभव हो, शिक्षकों और छात्रों को डिजिटल सामग्री उनकी सीखने की भाषा में पहुंचे।"

इसके अलावा शिक्षा के क्षेत्र में खुले, परस्पर विकसित, सार्वजनिक डिजिटल इंफ्रास्ट्रक्चर के निर्माण पर बल दिया गया है। वर्तमान सरकार प्रायः सभी स्कूल और कॉलेज परिसरों को वाईफाई से युक्त करने की कोशिश कर रही है, डिजिटल और स्मार्ट कक्षाओं से लेकर पुस्तकालयों तक को ऑनलाइन उपलब्ध कराने की कोशिश जारी है (जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (JNU) ने अपनी लाइब्रेरी ऑनलाइन कर रखी है)।

कई विषयों में छात्रों को व्यावहारिक शिक्षा की जरूरत होती है जो ऑनलाइन मोड में पूरा नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में उद्धरित है कि वर्चुअल लैब बनाने के लिए दीक्षा, स्वयम् और स्वयंप्रभा जैसे मौजूदा ई-लर्निंग प्लेटफार्म का उपयोग किया जायेगा, ताकि सभी छात्रों को गुणवत्तापूर्ण व्यावहारिक और प्रयोग-आधारित (Practical) अनुभव का समान अवसर प्राप्त हो। एसडीजी छात्रों और शिक्षकों को पहले से लोड की गई सामग्री वाले टैबलेट जैसे उपयुक्त डिजिटल उपकरण पर्याप्त रूप से देने की संभावना पर विचार किया जायेगा और उन्हें विकसित किया जायेगा।

एक अन्य समस्या के रूप में शिक्षकों द्वारा अनुभव की जा रही समस्या है कि उन्हें ऑनलाइन शिक्षा प्रदान करने का कोई अनुभव नहीं है और न ही वैसा क्लासरूम वाला परिवेश मिल पा रहा है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 ने इस सिलसिले में बड़ा परिवर्तन किया है, पहले जहाँ शिक्षण प्रक्रिया शिक्षक-केंद्रित रहती थी अब उसको बदलकर शिक्षार्थी केंद्रित कर दिया गया है। अब शिक्षकों को शिक्षार्थी केंद्रित अध्यापन में गहन प्रशिक्षण दिया जायेगा और यह भी बताया जायेगा कि वे ऑनलाइन शिक्षण प्लेटफार्मों और उपकरणों का उपयोग करके उच्चतर गुणवता वाली ऑनलाइन सामग्री का स्वयं सृजन करेंगे। ई-सामग्री के साथ-साथ छात्रों में आपसी सहयोग स्थापित करने के लिए शिक्षक की भूमिका पर जोर दिया जायेगा।

क्षेत्रीय भाषाओं में पाठ्य सामग्री का अभाव दूर करने के लिए वर्तमान सरकार 2014 के बाद से ही प्रतिबद्ध है। इस नीति में भी उनका यह विजन झलकता है और वह ऑनलाइन मोड में सामग्री बनाने, प्रशिक्षित शिक्षक आदि समस्याओं के निराकरण की बात कर चुकी है।

इन सबके अलावा राष्ट्रीय शिक्षा नीति में एक **राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी मंच** की स्थापना की भी बात की गई है, जिसमें विद्यार्थियों की प्रगति की निगरानी और प्रशासन में अभिवृद्धि हेतु दीक्षा, स्वयम् जैसे उपयुक्त ई-लर्निंग प्लेटफार्म का विस्तार किया जायेगा। इसके साथ ही ऑनलाइन मूल्यांकन और प्रशिक्षण और परीक्षाओं के लिए उपयुक्त निकाय, जैसे कि प्रस्तावित राष्ट्रीय मूल्यांकन केंद्र अथवा 'परख', स्कूल बोर्ड, NTA और अन्य चिन्हित मूल्यांकन रूपरेखाओं का निर्धारण करेंगे और कार्यान्वित करेंगे। 21वीं सदी के कौशल पर ध्यान केंद्रित करते हुए (शिक्षा टेक्नोलॉजी का प्रयोग कर मूल्यांकन और परीक्षाओं के नए तरीकों का अध्ययन किया जायेगा। NTA ने विभिन्न विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं को स्नातक, परास्नातक और पीएचडी स्तर पर कॉमन एंट्रस करवाना 2022-23 सत्र से शुरू कर दिया है इसके अलावा मेडिकल और इंजीनियरिंग की प्रवेश परीक्षाओं को एकीकृत संरचना में किया गया है।

विश्वस्तरीय डिजिटल इंफ्रास्ट्रक्चर, शैक्षिक डिजिटल सामग्री और क्षमता निर्माण के लिए वर्तमान सरकार कार्यान्वयन एजेंसी के रूप में मुस्तैदी से अपने कार्य को गति प्रदान कर रही है। प्रोफेसरों को

व्याख्यानों को रिकॉर्ड कर उन्हें उचित डिजिटल प्लेटफॉर्म पर अपलोड करने की प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान की गई है। पहले से चल रहे MOOC और SWAYAM पोर्टल को सरकार ने और विस्तारित करना शुरू कर दिया है। ऑनलाइन शिक्षा की तरफ वर्तमान सरकार क्रांतिकारी कदम उठाते हुए 2022- 23 के बजट में डिजिटल विश्वविद्यालय की स्थापना की घोषणा की है। यह अत्यंत महत्वपूर्ण निर्णय है क्योंकि एक डिजिटल यूनिवर्सिटी विविध भाषाओं में गुणवतापूर्ण उच्च शिक्षा तक बेहतर पहुंच प्रदान करने में सक्षम होगी और यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति के साथ संरेखित होगा। विभिन्न विश्वविद्यालयों से सलाह लेकर हमारे वर्तमान UGC प्रमुख इस दिशा में कार्य करना शुरू कर चुके हैं।

अपनी भाषा में उच्चस्तरीय सामग्री, कुशल और सृजनशील शिक्षकों से अध्यापन, लोगों तक शिक्षा की पहुंच, कौशल विकास के साथ-साथ सामाजिकता और नैतिकतापूर्ण शिक्षण व्यवस्था शिक्षा के क्षेत्र में आत्मनिर्भर भारत के सपने को मजबूती प्रदान करेगा। किसी भी देश के लिए व देश में बदलाव के लिए शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण औजार है, अतः शिक्षण के एक माध्यम के रूप में ऑनलाइन पद्धति को अपनाकर शिक्षा और मानव पूँजी निर्माण में आत्मनिर्भरता पाई जा सकती है जो आजादी के अमृत महोत्सव के 75वें वर्ष में लालकिले की प्राचीर से भारत को 2047 तक एक विकसित देश की श्रेणी में खड़ा करने के प्रधानमंत्री के लक्ष्य में आधार का काम करेगा।

**निष्कर्षतः** हम कह सकते हैं कि ऑनलाइन शिक्षा के क्षेत्र में कोविड ने नए विकल्प खोले हैं और थोड़े बहुत अनुभव भी प्रदान किये हैं। हम प्राचीन काल से ही मनुष्य और यंत्र के बीच के अन्तर्सम्बन्ध को अपने विवेकानुसार उपयोग करते चले आ रहे हैं। यंत्रों ने मनुष्य की क्षमता और संभावना उजागर की है और उसे महान रचयिता और आविष्कारक बनाया है, जिससे मनुष्य की इच्छाएं अनंत होती जा रही हैं, ऐसी स्थिति में विवेक निर्णायक है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में वर्णित विवेक द्वारा संचालित ऑनलाइन एजुकेशन वास्तव में शिक्षा के परिणाम और गुणवत्ता को अनंत संभावनाओं की ओर ले जा सकता है। इस तरह उचित कार्यान्वयन क्षमता द्वारा ऑनलाइन शिक्षण प्रणाली छात्रो में सामाजिकता, नैतिकता, परस्पर उत्साह का वैसा संचार करने में सक्षम होगी, जिस तरह से भौतिक रूप से होने वाला शिक्षण कार्य करता है।

संदर्भ सूची:


1. शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार. (2020). राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020. नई दिल्ली: भारत सरकार।
2. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC). (2022). स्नातक शिक्षा हेतु पाठ्यचर्या एवं क्रेडिट फ्रेमवर्क (Curriculum and Credit Framework for Undergraduate Programmes). नई दिल्ली: यूजीसी।

3. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (NCERT). (2023). राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा (National Curriculum Framework-2023). नई दिल्ली: एनसीईआरटी।
4. अनिल सद्गोपाल. (2021). राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020: एक आलोचनात्मक अध्ययन. नई दिल्ली।
5. कृष्ण कुमार. (2021). शिक्षा, समाज और राष्ट्रीय शिक्षा नीति. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।
6. रमेश उपाध्याय. (2021). राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020: विमर्श और चुनौतियाँ. नई दिल्ली।
7. महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय. (2021). राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020: विमर्श. वर्धा: म. गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय।
8. इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय. (2022). राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020: अध्ययन सामग्री. नई दिल्ली।
9. भारतीय शिक्षा मंडल. (2021). राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020: भारतीय परिप्रेक्ष्य. नई दिल्ली।
10. शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार. (2021). राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के कार्यान्वयन हेतु दिशा-निर्देश. नई दिल्ली: भारत सरकार।

…

(शोध आलेख)

# समकालीन ओड़िआ कहानी के विविध आयाम

बिश्वजीत कलता

आदिम सभ्यता से लेकर अब तक मानव विकास- यात्रा का इतिहास जिन कलारूपों में मिलता है, कहानी उनमें से एक प्रधान रूप है। मानव सभ्यता की इस विकास यात्रा के समान्तर कहानी यात्रा को देखें तो भारतीय कथा-साहित्य के युग संचरण को समझा जा सकता है। दुनिया का पहला कथा केन्द्र भारत ही माना जाता है। लगातार बारह शताब्दियों तक सारी दुनिया की कहानियों का स्त्रोत यहाँ मिलता है। आदिम सभ्यता से लेकर विश्व की लगभग सारी संस्कृतियों को अपने कथाबीज यहीं से मिलते रहे हैं।

पिछले कुछ दशकों की कथा-यात्रा में ओड़िआ कहानी ने कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर कई प्रयोग किए है। इस यात्रा में प्रत्येक छोटे-बडे मोड़ को सूचित करने के लिए कहानी लेखकों, आलोचकों ने विविध नाम भी दिये है। अणु कहानी, मिनी कहानी, प्रतीक कहानी, आभास कहानी, अगली शताब्दी की कहानी जैसे कई नाम कहानी के बहुस्तरीय रूप को प्रकट करते है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद केवल ओड़िआ कहानी के क्षेत्र में ही नहीं, समूचे ओड़िआ साहित्य के क्षेत्र में जो एक जबरदस्त प्रवाह फूट पड़ा था, अपने आप में पूर्ववर्तियों की अपेक्षा बिल्कुल ही नया था। यह नयापन मात्र पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण का फल नहीं था और न रचनात्मक स्तर पर बौद्धिक बाजीगरी का, किन्तु यह नयापन या समूचे भाव बोध का जो तत्कालीन जीवन बोध का परिणाम था। परम्परागत जीवन मूल्यों के विरोध में नये जीवन का एक ऐसा आक्रमण था, जहाँ हर पुरानी चीज अस्वीकृत की जाती है। इसलिए उस विशिष्ट संस्कृति- युग में पैदा हुए कहानी साहित्य को नई कहानी से संबोंधित करना कई दृष्टियों से युक्त लगता है।

समकालीन ओड़िआ साहित्य या कथा साहित्य को अगर समय काल में देखें तो 1960 ई. से अब तक मान सकते हैं। इस दौर में सामाजिक या जातीय जीवन की रूपरेखा कहानीकार का लक्ष्य नहीं रहा व्यक्ति जीवन के चित्र ही उसका प्रमुख लक्ष्य बन गया। बनी बनाई परिपाटी और कथा वस्तुओं को नई कहानीकार ने नकार दिया। वह अलग रास्तों में गति करता है, अज्ञात रहस्यों का उद्घाटन करता है। लोक कहानियों के जैसे राजा-रानी, बुढी असुरणी, पशु-पक्षी कथा, आदर्श हृदय परिवर्तन कथा को वह अब नहीं ढूंढता। प्रादेशिक साहित्य के साथ पाश्चात्य चिन्ताधारा से प्रभावित होकर वह इंटलेक्चुअल जीवन को अब बांधने चला। वह विभिन्न वाद, वर्ग या सूक्ष्म मन की विश्लेषण आदि पर बल देकर कहानी के कथ्य और शिल्प को परिवर्तित करता गया। जिसके परिणाम स्वरुप अनु गल्प, मिनी गल्प, प्रतीक गल्प, आभास गल्प एक आदि आंदोलन दिखने लगे। इसमें बड़े बड़े कहानीकार सुरेंद्र महान्ति, शांतनु आचार्य, मनोज दास से लेकर पाश्चात्य शैली से प्रभावित अनेक युवा कहानीकार भी शामिल होते गए। ओड़िआ कहानी की भाषा, प्रतीक, शिल्प, कथावस्तु सभी स्तर पर इसका प्रभाव पडता गया। इसे शत्रुघ्न प्रताप की बातों से समझा जा सकता है- “समकालीन समय में ओड़िआ कथा

साहित्य की अनेक दिशा खुलने लगी अनेक पंख फूटने लगे। सत्तर दशक के उपरान्त कहानी में समाज के बदले व्यक्ति कहने लगा आत्मा अंतर्धान होने लगा। कहानी के शिल्प कला में भी परीक्षा निरीक्षा होकर शैली में भी बार बार परिवर्तन होता गया। इस प्रकार कहानी से कहानीपन वाले तत्वों को गायब कर कहानी को नए रूप में देखे जाने लगा।"[1]

उन अनेक रूपों में समकालीन कहानीकार बनी बनाई परिपाटी को खारिज करने लगा। फकीर मोहन के और परवर्ती युगों के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, यथार्थवाद, के बदले नवीन यथार्थ, आधुनिकतावाद, भौतिकवाद आदि दिखाई देने लगते हैं। पारिवारिक विसंगति और विखराव, बेरोजगारी, मध्यवर्गीय आकांक्षा, व्यक्ति का पलायन, शहरीकरण आदि कहानी की कथावस्तु बनने लगी। पुनः कहानी में नई चीज़ के रूप में दलित, नारी वर्ग के दुख यंत्रणा, समस्या, अधिकार, अपराध आदि के चित्र उभरने लगे। नई कहानी के साथ अ कहानी, सचेतन कहानी, सरल कहानी, सामानांतर कहानी आदि के प्रभाव ओड़िआ कथा साहित्य में भी दिखने लगे। समकालीन कहानीकार विगत अर्ध शताब्दी के परिवर्तन, राजनीतिक उलट फेर, दलित सर्वहारा वर्ग की स्थिति, व्यक्ति का अकेलापन, हताशा, सांप्रदायिकता, आतंकवाद आदि नाना प्रसंगों को अपनी कहानियों में उकेरने लगा। कूल मिलाकर समकालीन कहानी को इस प्रकार देखा जा सकता है कि इसका रूप एक नहीं बल्कि विविधतापूर्ण है। इसी प्रकार इस की कथावस्तु के भी एक नहीं अनेक रूप है। समकालीन कहानीकार इतिहास किंवदंती से लेकर नारी आदिवासी आदि विविध आयामों पर अपनी कलम चलाकर अपने आप को ढुंढता जा रहा है। जिसे इस प्रकार देखा जा सकता है-

## समकालीन ओड़िआ कहानी में इतिहास और किंवदंती

इतिहास और किंवदंती को आधार बनाकर साहित्य की रचना करना एवं उस से मानवीय रस का उद्रेक करना यह आधुनिक अभिव्यक्ति की एक कला है। प्राचीन साहित्य में इतिहास और किंवदंती का महत्त्व बहुत कम था। पर आधुनिक समय में जब देश-देश के बीच युद्ध, सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा होने लगी तब जातीय गौरव की मांग होने लगी। लोग अपने गौरवमय अतीत की चर्चा और किम्वदंतियाँ का अनुशीलन कर जातीय जीवन को पुन:स्पंदित करने लगे। साहित्य में इतिहास और किंवदंतियां जीर्ण-सीर्ण या गड़े मुर्दे उखाडने का काम नहीं करती, बल्कि उसमें उन प्राचीन चीजों को नवीन संदर्भों में पुन सृजित करना उसका काम है।

ओड़िआ कहानी में आदि परंपरा से इतिहास और किंवदंती साथ चलते आए हैं, जो समकालीन ओड़िआ कहानियों में अपने चरम विकास को प्राप्त हुए हैं। आधुनिक ओड़िआ कहानी के जन्मदाता फकीर मोहन सेनापति हैं, उन्होंने ओड़िआ की कुछ प्रारम्भिक कहानियों में इतिहास और किम्वदंतियाँ को समिश्रित किया। उनकी दो ऐतिहासिक कहानियां है 'प्रसाद गोराप' और 'कमलाप्रसाद गोराप'। इन कहानियों में फकीर मोहन ने प्राचीन उत्कल की नौ वाणिज्य संस्कृति का चित्रण किया है। इसके अलावा इन कहानियों में ओड़िआ के लवण शिल्प, जहाज व्यवसाय, सामुद्रिक व्यापार, पर्तुगीज़ व्यापारियों की लुट्मार आदि देखने को मिल जाती है। उनके 'मौना मोनी' कहानी में नागा साधुओं की तंत्रमंत्र, लूटमार आदि धार्मिक

पाखंड तथा बालेश्वर की राह जानी में तीर्थ योगियों के ऊपर अंग्रेजों का अत्याचार आदि भी इस कहानी का केंद्र रहा है। इस प्रकार आधुनिक ओड़िआ कहानी में इतिहास और किंवदंती को आधुनिक संदर्भ में वाख्या करने की परंपरा फकीरमोहन से ही शुरू हो गयी थी।

समकालीन कहानियों में इतिहास और किंवदन्तियों का महत्वपूर्ण सम्मिश्रण देखने को मिलता है। राजकिशोर राय की 'कलिंग शिल्पी' जो इतिहास की बात को रोमेंटिक प्रेम के साथ वर्णन करती है। गोपीनाथ महान्ती की इतिहास, पत्थर, पीछा परीक्षा, झंझावती और पुनर्जन्म आदि कहानियों में इतिहास का स्पष्ट संकेत है। बौद्ध युगीन इतिहास के साथ परवर्ती गंग-सूर्यवंशी काल की कुछ घटनाओं को केंद्र में रखकर कथाकार सुरेंद्र महान्ति कई ने कहानियाँ लिखी हैं। तथा बौद्ध युगीन छाया के पर आधारित सारीपुत्त, मधुमत्ता की रात्रि, महानिर्वाण और अंबापाली कहानी है। 'सारीपुत्त' में इतिहास की कुछ बातें जैसी रूपश्री के जीवन बोध और मातृत्व के चित्त वृत्ति साफ दिखाई देती है। 'अंबापाली' में बौद्ध थेरीगाथा यानी एक सुंदर नर्तकी के ऊपर केन्द्रीत है। नारी जीवन की व्यथा और व्यर्थता, भोग और काम, आशा और निराशा आदि द्वंदमूलक चीजों को इस कहानी में उकेरा है। वैशाली नगर की गणिका अंबापाली रूपश्री की गणभोग्या हो गई। रुपश्री और उसका एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे राजा रूपश्री अपनाने से साफ इनकार कर देता और दासी कवलई को आदेश दिया कि इसे फेंक दो। पर कवलई उस बच्चे को छिपाकर रखती है जो आगे चलकर बुद्ध का शिष्य जीवक बनता है। जीवक चिकित्सा के भी बड़े आचार्य थे जो अंबापाली को व्याधिग्रस्त से मुक्त कर उसकी पूर्व सुंदरता लौटा देते हैं। बाद में पता चला कि यही जीबक उस का बेटा है। कुछ दिन बाद वैशाली में बुद्ध आते हैं, अंबापाली उनका दर्शन करने के लिए तड़प उठती हैं। पर वह वैश्या है मिलने के लिए कैसे से जाए? दूसरी तरफ महाराजा बिम्बिसार उसके शरीर के उपभोग के लिए कक्ष में इंतजार कर रहे हैं। वह अंतरद्वंद्व में होती है, कि एक ओर अर्थ तो दूसरी और उपभोग तो एक तरफ विलास तो दूसरी तरफ मोक्ष। इसी सोच में डूबी होती है कि गौतम बुद्ध उसके कक्ष में प्रवेश करते हैं। अंबपाली बुद्ध के चरण में लेट जाती है।

शांति महापात्र ने अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ लिख कर ओड़िआ साहित्य को समृद्ध किया है। उनके दो कहानी संग्रह है 'इतिहास कब्र' और 'विस्मृति आलेख्य' जिसमें कई ऐतिहासिक कहानियों की भरमार है। 'देवदासी' कहानी में राजा तृतीया अनंग भीमदेव की कन्या चन्द्रिका के जगन्नाथ सम्मुख नृत्य, सेनापति परमार्थी देव का नृत्य उपभोग और उस पर आकर्षित हो जाना, गंगवंश की शत्रुता, शत्रु दमन के लिए परमार्थी देव की यात्रा और युद्ध में वीरगति प्राप्त। राजकुमारी चंद्रिका अनंत वासुदेव मंदिर का निर्माण और प्रतिष्ठा के दिवस के दिन प्रियतम की मृत्यु संवाद और उसी शोक में डुब जाना आदि।

गुणनिधि जेना की 'महाकाल' और 'गढ़रागिरि की शेष प्रहर' कहानी इतिहास और किम्वदंती केंन्द्रीत है। प्रथम कहानी में वस्तुकल्प बौद्ध धर्म का केंद्र और रत्नगिरी का ऐश्वर्य था। उसके पश्चात अशोक का आक्रमण, कलिंग विजय,

युद्ध की विभीषिका और कलिंग युवक के स्वाभिमान और वीरत्व, कलिंग कुमारी के त्याग और अंत में अशोक का हृदय परिवर्तन आदि दिखाया गया है।

इस प्रकार समकालीन ओड़िआ कहानियों में ऐतिहासिक और किम्वदंती का सम्मिश्रण अनवरत चलता रहा है। कहीं पूरी की पूरी कहानी इतिहास और किम्वदंती मूलक है तो कहीं आंशिक रूप से उसकी झलक देखने को मिलती है।

**समकालीन ओड़िआ पौराणिक और आध्यात्मिक चेतना**

भले ही आधुनिक समय में मनुष्य कितने ही आगे बढ़ गया है, परन्तु अपनी परंपरा रीती नीति को कभी छोड़ नहीं पाया है। जब कभी भी उसे ये घोर आधुनिकता और उसकी चिंता घेर लेती है तब वह उसका उत्तर ढूंढने के लिए अपनी परंपरा, संस्कृति, पुराण और आध्यात्मिक चेतना की ओर डुबकी लगाता है। आधुनिक ओड़िआ कहानी में फकीर मोहन से आरंभ होकर समकालीन कहानियों में अनेक पुराण और आध्यात्मिक चिंतन के प्रसंगवद्ध हुए हैं।

समकालीन ओड़िआ कहानी में पौराणिक और आध्यात्मिक व्यंजना देखने को मिलती है। गोपीनाथ महान्ती, सुरेंद्र महान्ति, मनोज दास, नीलमणी साहू, शांतनु कुमार आचार्य चंद्रशेखर रथ, कृष्ण प्रसाद मिश्र, हेमंत कुमार दास, सत्यनारायण मिश्र, रविनारायण बराल, रवि पटनायक, रत्नाकर चौमी, सात कड़ी होता, किशोरी चरण दास, वीणापाणी महान्ति, अच्युतानंद पति, प्रतिभा राय, वामा चरण मिश्र, श्रीनिवास उद्गाता प्रमुख बहु कथा शिल्पी पौराणिक और आध्यात्मिक विषय को व्यंजनात्मक रूप में प्रकाशित कर आधुनिक जटिल जीवन को सरस करने का प्रयास करते हैं। कथाकार सुरेंद्र महान्ति जिस प्रकार पौराणिक भाव संपदा की व्यंजना की हैं, उसी प्रकार बौद्धिकता के साथ कहानी में आध्यात्मिक चेतना भी खूब समाहित है। 'मराल की मृत्यु' कहानी में कल्पवट पिंड को ब्रह्मांड का प्रतीक के रूप में एवं जीवात्मा और परमात्मा को दो पक्षियों के रूप में प्रस्तुत किया है जो उपनिषद से संदर्भित है उनको गंभीरता के साथ प्रस्तुत किया।

कथाकार गोपीनाथ महान्ति ने भी अपनी कुछ कहानियों में पौराणिक रसबोध को जाग्रत किया हैं। जैसे 'जय कीचक' कहानी में आधुनिक मनुष्य की यौन विकृतियाँ को कीचक के चरित्र के सहारे व्यक्त किये हैं। उसके बाद उनके 'पाल भूत' कहानी में लेखक परंपरा की पवित्रता, उसके विश्वास, मानवता आदि जड वादी मनुष्य की जिज्ञासा और आधुनिक वैज्ञानिक मनोवृत्ति प्रभावों के बीच संघर्ष को दिखाया है। समकालीन ओड़िआ कथा साहित्य में मनोज दास का विशिष्ट स्थान है। उनकी कहानियाँ मानव की संवेदना और सहानुभूति को जीवित करने का काम करती है। हृदयपरिवर्तन की कहानी 'सीता की शादी' में भी उनका पौराणिक-आध्यात्मिक चिंतन आधुनिक संदर्भ में स्पष्ट दिखता है। एक अपरिपक्व बालिका सीता गंभीर आंतरिकता के साथ श्री रामचन्द्र से विवाह करना चाहती है। वह अपने दादाजी से कहती है रामचन्द्र को बुलाओ मुझे उनसे शादी करनी है। तब उसके वृद्ध दादा जी कहते हैं "बुलाने की क्षमता मेरे पास नहीं है जब सीता स्वंय अपने सच्चे दिल से उन्हें पुकारेगी तो वह ज़रूर आयेंगे, क्योंकि वह बहुत दयालु है।"[2] ठीक उसी प्रकार आध्यात्मिक भाव आपको कथाकार नीलमणी साहू की 'कपोत पक्षी गुरु मोर' कहानी में देखने को मिलता। इसमें जगन्नाथ दास रचित श्रीमद भागवत पुराण के

अवधूतों की चौबीस गुरु परंपरा के बीच कपोत पक्षी प्रसंग को लिख कर पार्थिव और अपार्थिव आकर्षण के द्वंद्व को भौतिकी रूप में दिखाया हैं। उसके बाद उनकी 'कंईच' कहानी देखी जा सकती है। जो व्यक्तिगत स्वार्थ के चलते छोटे भाई के प्रति निर्ममता है उसको लक्ष्य कर वे रामायण की कथा को कहानी में अंशीभूत किया है-"कि यह संसार क्या है? संसार को कौन देखा है? कौन कौन समझता है?"3 यह वह लक्ष्मण का प्रश्न है जो घोर अंधकार और भीषण आंधी के समय में कुटीर में पहरा दे रहा है और इस भयंकर आंधी के समय भी लक्ष्मण के असीम धौर्य और सहनशीलता के चलते राम और सीता गंभीर सुख निद्रा में सोये हैं।

अन्य समकालीन कहानीकारों में किशोरी चरण दास आधुनिक मनुष्य के अवचेतन के अंह और रहस्य को सहज रूप में प्रकाशित करने के लिए पौराणिक कथाओं को व्यंग्यात्मक और प्रतीकात्मक रूप में व्यवहार किया है। जैसे 'मनोहर' कहानी में जगमोहन के माध्यम से पूर्वजन्म में कृष्ण मृत्यु प्रसंग को मनुष्य के अंह के संदर्भ में दिखाया गया है। कि जैसे उन्होनें कौरवों के वंश को अहं के कारण निपात किया था उसी प्रकार उनके यदुवंश का भी अंह के कारण विनाश हो गया। उसके बाद उनकी 'त्रयोबींश मृत्यु' कहानी भी अन्य एक पौराणिक कहानी है। रविनारायण बराल भी अपनी कहानियों में पौराणिक प्रसंग का उल्लेख किया है। जैसे उनकी कहानी 'शिखंडी की आत्मलिपि' में लेखक खूद को शिखंडी के रूप में स्वीकार कर लिखा है- "जीवन के महाभारत युद्ध में अर्जुन विजयी और शक्तिशाली है और देवदत्त के पतन हेतु हीन शिखंडी मैं, निर्जन निश्चल अर्धरात्र में भी मुझे क्लिवत्व के अलावा और कुछ नजर नहीं आ रहा है।"[4]

रविनारायण बराल के जैसे कथाकार कृष्ण प्रसाद मिश्र की 'पश्चिमा', 'पापा के भालू' 'भूत और साप' आदि कहानियों में पूराण और किम्वदंती कथा को प्रतीकात्मक रूप में प्रकाशित किया है। 'अभिशप्ता' कहानी में कौशल्या के अवचेतन मन में गुप्त भावना को लेखक उद्घाटन करने के लिए उर्वशी प्रसंग का सहारा लिया है। कथाकार शांतनु आचार्य ने पौराणिक कथा वस्तुओं में विशेष रुचि नहीं लेने के पश्चात भी भारतीय संस्कृति के पौराणिक विश्वास है उसे 'हृदय कलाप', कहानी में उकेरा है। श्रीनिवास उदगाता की 'मेंढक की कहानी', बीणापाणी महांति की कहानी 'अंधकार की छाया', 'नंदिघोष' प्रभृत्ति कहानियों में और सत्यनारायण पंडा की कहानी 'जटायु के स्वप्न', 'चन्द्रसेना' आदि कहानियों में पौराणिक आध्यात्मिक चीजों को प्रतीकात्मक रूप से प्रकाशित कर मानवीय संवेदना सृष्टि करने में समर्थ हुए हैं। इस प्रकार सुरेंद्र महाँति की 'श्रीकृष्ण का शेष धर्म' कहानी में जहाँ महाभारत युद्ध अंत हो गया है, युद्ध क्षेत्र श्मशान बन चुका है। गांधारी अंतिम बार आंखेँ खोलकर अंतिम बार अपने पुत्र को देख लेना चाहती थी। उसने अपने आंख खोली तो सामने दुर्द्क्ष था जो जलकर भस्मीभूत हो गया। यह कृष्ण की चाल समझकर गांधारी कृष्ण को कहती एक दिन यदुवंश भी इस प्रकार विनाश हो जाएगा। इस प्रकार महाभारत की कथा पर और कुछ कहानियाँ है जैसे- 'योजना गंज', 'रक्त के विलाप' और 'संध्यावली'।

## समकालीन ओड़िआ कहानी में युद्ध विरोधी स्वर

युद्ध मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति है। युद्ध उसके अहंकार और स्वार्थ की अभिव्यक्ति है। मनुष्य जीने के लिए अपने परिवेश, प्रकृति, मानव, मानवेत्तर जीव के साथ आदिम अवस्था से लड़ता आया है। प्राचीन आदिकालीन और मध्यकालीन भारतीय साहित्य तो युद्ध का साहित्य था उसमें राजाओं के युद्ध प्रशस्ति चारण और भाट कवि गाते रहते थे। परंतु आधुनिक मनुष्य ने जब दो विश्व युद्ध और उसके परिणाम देखें तब उसका हृदय काँप उठा और युद्ध के प्रति उसका नजरिया बदल गया। वह ये सोचने लगा कि कैसे युद्ध न हो या फिर युद्ध कैसे बंद हो। यही सोच उसके साहित्य में भी दिखने लगी। वेस्टलैंड जैसी कृतियां लिखी जाने लगी जिसमे मनुष्य के अस्तित्व का कितना महत्त्व है उसको आंका जाने लगा। अनंत पटनायक, मन मोहन मिश्र, राजकिशोर राय, गोपीनाथ महान्ती, सुरेंद्र महान्ति, रघुनाथ दास, मनोज दास आदि प्रमुख ओड़िआ कथाकार हैं जिन्होंने अपने समकालीन विश्व साहित्य को देखा और अपनी कहानियों में युद्ध विरोधी चिंता धारा को प्रकाशित किया।

अनंत पटनायक की कहानी 'चंदा-उत्तरा' युद्ध जनित बर्बरता और असहाय मनुष्य का चित्कार दिखाती है। यह कहानी स्वाधीनता पूर्ववर्ती द्वित्तीय विश्व युद्ध के समय में ब्रिटिश सैनिकों की निर्ममता और पैशाचिक प्रवृत्ति का एक जीवन्त चित्र है। रघुनाथ दास की 'यात्रा पथे' कहानी में द्वित्तीय विश्वयुद्ध की सूचना देखने को मिलती है। गांव के लोग कैसे हटीया हिटलर गीत गा रहे थे उस गीत में विश्वयुद्ध की गोला बारूद, बंदूक आदि के एक एक चित्र पंक्तियों में बिंबित हो रहे थे। 'स्वराज्य' कहानी में लेखक भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के साथ विश्व जनित निराशा और हताशा को भी रेखांकित किया है। राजकिशोर राय की कहानी 'यात्रा मंगल' विश्वयुद्ध परिवेश की एक करुण अभिव्यक्ति है। कथाकार गोपीनाथ महान्ती की 'मटिया बुरुज' में सांप्रदायिक संग्राम और युद्ध की मार्मिकता देखने को मिलती है। युद्ध के बाद की स्थिति को इस प्रकार रेखांकित किया है- ''उत्कल बीर ओडिया बिदेश का मजदूर हो गया है। उसका पेट पीठ सब एक हो गए। फटेहाल मैले कपड़े और आंखें धंस गई है।''[5]

1962 ई. में पंचशील नीती की अवज्ञा कर चीन ने भारत पर आक्रमण किया। लद्दाख इलाके के कुछ अंश पर कब्जा कर लिया, इसी पर केंद्रित गोपीनाथ महान्ती की तीन कहानियाँ है- 'मनुष्य', 'तोप' और 'गोली'। इस गल्पत्रयी में जातीयता का बोध है। विश्वयुद्ध के प्रति जिस घृणा और आतंक का भाव था वह भारत चीन युद्ध में चीन के प्रति भी देखा जा सकता है। इन कहानियों में युद्ध विरोधी स्वर के साथ युद्ध को प्रोत्साहन करने की तीव्रता भी देखने को मिलती। जो काम हिंदी साहित्य में रामधारी सिंह दिनकर अपनी कविताओं में कर रहे थे वही काम ओड़िआ साहित्य में गोपीनाथ महान्ति अपनी कहानियों में कर रहे थे।

सुरेंद्र महान्ति भी 'भारत आविष्कार' कहानी में युद्ध से उत्पन्न भय और क्षय को दिखाया गया है। प्रत्यक्ष रूप से इसमें किसी देशों के बीच युद्ध की बात तो नहीं की है, परंतु युद्ध से जो हानि होती है उसका चित्रण जरूर किया है। मनोज दास की 'समुद्र की क्षुधा' विश्वयुद्ध के परिपेक्ष में रचित एक मर्मस्पर्शी कहानी है। सुवर्ण रेखा नदी के बीच एक गांव था।

द्वितीय विश्वयुद्ध समय में एक भयावह खबर गांव में दौड़ गयी कि अंग्रेज और जापान युद्ध कर रहे हैं और गांव में बम गिरेगा। यह सोचकर लोग भय से इधर उधर पलायन करने लगे। लोग, गांव, घर और सारे संसाधन एक पल में उजड़ गई।

कथाकार शांतनु आचार्य की 'न्यूटन बोमा या प्रेम की दवाई' कहानी में बंदर, गिरगिट, चिड़िया और डायनासोर के बीच युद्ध से प्रतीकात्मक रूप में हिंसा को छोड़ प्रेम और शांति का संदेश दिया है। मतलूब अली की 'पदमा की संगीत' भी युद्ध विरोधी भावधारा की अभिव्यक्ति है।

**समकालीन ओड़िआ कहानी में नारी**

ओड़िआ साहित्य में आधुनिक युग के ठीक पूर्ववर्ती युग रीतियुग में नारी को लेकर काव्य की भरमार होने लगी। पर वहाँ नारी नहीं उसकी विलासिता, कामूकता, यौवन और मनुष्य की विकृत अभिलाषा का आलंबन मात्र था। वास्तव में नारी की दशा व दिशा का चित्र आंकने का सर्वप्रथम प्रयास किया था ओड़िआ कथा साहित्य के जनक फकीरमोहन सेनापति ने। अपनी पहली कहानी 'रेवती' के माध्यम से उन्होंने रुढिवादी जर्जर समाज के खिलाफ रेवती को पढ़ाकर, नारी शिक्षा विरोधी परंपरा को तोड़ने का प्रयास किया था। रेवती की पढाई देख उसकी दादी कह उठती- "है लो रेवती ये पढ़ाई क्या चीज़ है और वो भी लड़कियों के लिए? जा पूजा पाठ कर, चुल्हा जला! तेरी पढाई चूल्हे में जाएगी क्या? रेवती जवाब देती है जा भाग बूढ़िया तू जा चूल्हा फूंक।"[6] इस प्रकार नारी को आधुनिक समय में आधुनिक नज़रिए से देखा जाने लगा था। स्वतंत्रता के बाद समकालीन कहानियों में नारी अपने अधिकार, अस्तित्व आदि के प्रति जागरूक होकर सभी क्षेत्रों में बराबर प्रगति की झंडा लिए आगे खड़ी रहीं।

अब नारी केवल परिवार बढ़ाने के लिए या बच्चा पैदा के लिए नहीं होती। अब उसका उद्देश्य साफ है। इस पर कथाकार सुरेंद्र महान्ति 'नीम ज्योत्स्ना' कहानी में लिखते हैं- "वंश रक्षा जिस दिन विवाह का उद्देश्य था उस दिन गर्भधारण, सतीत्व समाज के लिए आदर्श और आवश्यक था। पर आज जन्म निरोधी समाज में वंश रक्षा की अपेक्षा आत्मरक्षा का सवाल अधिक महत्वपूर्ण है।"[7] 'सारिपुत्त' एवं 'अंबापाली' कहानियों में नारी जीवन के मूलभूत सत्य को उजागर किया है। 'सारिपुत्त' कहानी में जीवक की माँ बुद्ध से कहती है "लौट जाओ भिक्षु मैं जीवक चाहता हूँ निर्वाण नहीं, निर्वाण तो मोह है।"[8] संतान बिछुड़ जननी के हृदय की यह मार्मिक अभिव्यक्ति है।

समकालीन कहानीकारों में मनोज दास विशिष्ट है। मार्क्सवादी चिंतधारा, अरविन्द दर्शन से अनुप्राणित होने के बाद मनुष्य जीवन के बृहत्तर सत्य को अपनी कहानियों में प्रकाशित करने लगे। उन्होंने नारी के मन की बात को अपनी कहानियों में व्यक्त किया। 'हीरा' की कहानी में हीरा, 'यायावर पुत्र' कहानी में उमा रानी, 'समुद्र क्षुधा' में शुभ्रा, 'वियोगात्मक' में सुमित्रा, 'आरण्यक' में मिसेज चाकूडी, 'बिल्ली' कहानी में महेंद्र मिश्र की माँ आदि नारी पात्रो के द्वारा अपनी बात रखी है। "देह व्यवसायी हीरा कितनी रातें कितने व्यक्तियों के साथ बिताई है, पर उसके मन को कोई छू नहीं पाया। उसके नारित्व केवल निरवता में विलाप किया है।"[9] सकल पापाग्नि के बीच मनोज दास ने नारी को शुद्ध स्वर्ण के रूप में अपना लिया है।

फिर 'सीता की शादी' और 'लक्ष्मी का अभिसार' जैसी कुछ कहानियों में नारी जीवन के अध्यात्म जिज्ञासा की बात की है।

किशोरी चरणदास ने अपनी कहानियों में स्वतंत्रता परवर्ती समाज की अभिजात्य शिक्षित नारी चरित्र के ऊपर विशेष बल दिया। जो कि बदलते समाज के साथ अपना रुख, स्वभाव, चरित्र, आचरण सब बदल रहे थे। उन्होने अनुभव किया है कि स्त्री ही पुरुष को लालच देकर भूखा बनाती है। वह अपनी कहानी में लिखते हैं- "स्त्री खींचती है, पुरुष खींचा चला आता है" [10]। किशोरी चरण नारी चरित्र की यौवन आकांक्षा को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं। आज के रूढ़िवादी समाज के अंदर उन्होने अनुभव किया है कि- "नारी और पुरुष में नारी लाल-नीला सिल्क रस्सी में बंधे हुए मांसपिंड है। जिसमें नारी के अधिकतर अधिकार की मांग में पुरुष छिप जा रहा है। नारी ही नारी चारों ओर केवल नारी! वे ही है।"[9] ये नारी वही है जो शादी करके न तो पूरी तरह अपना परिवार बसा पाती है और न ही अपने अतीत के प्रेमी को भुला पाती है। और कुछ नारियां जो कर्म की तल्लीनता की आड़ में दुर्भाग्यत: शादी न करके परवर्ती जीवन दुख और पश्चाताप से काटती। 'टूटा हुआ खिलौना' में गीता, 'आइसक्रीम' में मिसेस लाल, 'सक्षम के अच्छे दिन' में सावित्री, 'लक्ष्य विहंग' कहानी में मिसेज पूरी, 'वन मोर' में मिसेस सरोजा, 'माणिहीरा' कहानी में निर्मला देवी, 'अंडा' कहानी में श्यामली दत्त आदि उनकी कहानियों के नारी पात्र हैं जो वर्तमान के आधुनिक समाज की महिलाओं की दशा और दिशा को व्यक्त करती हैं।

समकालीन कथाकार अखिल मोहन पटनायक भी अपनी कहानियों में नारी जीवन के रहस्य को सुंदर रूप में अभिव्यक्त करते हैं। उनकी कहानियों के प्रमुख महिला पात्र हैं रीता, इंदिरा, निहारिका, मीना, माताजी, लीलावती, तनुजा, अहिल्या, सुमित्रा, प्रतिमा, रोना आदि। इन्हीं के माध्यम से समकालीन नारियों के चित्र को उकेरा है। वो कहते हैं आज की आभिजात्यवादी शिक्षाभिमानी नारी स्वामी को उपेक्षा कर प्रेमी के साथ रात बिताने का साहस रखती है। विवाहिता नारी निहारिका अपने प्रेमी रक्ष के साथ लिपटी हुई सोचती है- "और ये रविंद्र उसका पति पक्षहीन जटायु के जैसे है। जो कभी उसे समझ नहीं पाया, रक्ष आज रविंद्र नहीं है शांति के साथ जिओ, तुम्हीं मेरे सुंदर रविंद्र हो तुम ही मेरे मर्यादा हो।"[11]शांतनु कुमार आचार्य ने भी अपनी कहानियों में नारी के अवचेतन मन को रेखांकित किया है। बारह साल की बच्ची अनीता से लेकर प्रौढ़ा एवं विवाहित नारी अमीषा के मन की बात को अपनी कहानियों में अभिव्यक्त करते हैं। समकालीन ओड़िआ कहानियों में नारी चरित्र को लेकर अनेक कथाकार अनेक रूप में कहानियाँ लिखें हैं। कोई स्त्री चरित्र के माध्यम से समाज की विकृति और जर्जर अवस्था को रेखांकित किया है तो कोई उसके जीवन के वास्तविक यथार्थ का खुलासा किया है।

## समकालीन ओड़िआ कहानी में आदिवासी

ओडिया कहानी का जन्म होने से पहले ही ओड़िआ साहित्य में आदिवासियों की संवेदना को शामिल किया जाता रहा है। पर स्वतंत्रता के तीस साल पूर्व से इस विषय को विशेष बल मिला। जिसमें 1908 ई. में गोपाल वल्लभ दास रचित 'भीमा भुआँ' उपन्यास, उमेशचंद्र सरकार का 'क्योंझर विद्रोह' 1919ई. एवं 1936 ई. में भगवती चरण पाणिग्रही की दो

कहानी ‘जंगल’ और ‘शिकार’ आदि है। परन्तु इन रचनाओं में वह केवल संवेदना और सहानुभूति के पात्र थे। उनका संघर्ष, वीरता, स्वतंत्र सत्ता, समाज, संस्कृति आदि के बारे में विशेष जिक्र नहीं मिलता है। परंतु स्वतंत्रता के पश्चात 1960 ई. के बाद समकालीन साहित्य में आदिवासी या जनजातियों के हर पक्ष को उकेरा जाने लगा चाहे वह आदिवासी लेखक हो चाहे गैर आदिवासी लेखक।

1983 ई. में कहानीकार सच्चिदानंद राउतराय ‘गागरी’ कहानी रचना की, जो खोंध जनजाति और उनकी नरवली प्रथा पर केंद्रित है। आदिवासी मुखिया खोंध राजा के आदेश से हर साल नरबली देते थे जिसके चलते उसे जागीर में जमीन मिली थी। पर लगातार मनुष्य हत्या से उनका जी मचल उठा। नरबली को त्याग दिया और जब राजा नहीं माने तो वह अपनी जमीन और जागिर पद लौटा दिया। इस कहानी में लेखक एक आदर्शवादी मन की बात करते हैं। भले ही व्यक्ति निम्न वर्ग का हो पर उसकी सोच और उसका व्यवहार बहुत ऊंचा है। गोपीनाथ महान्ति आदिवासी समाज के एक वरीष्ठ कथाकार। नौकरी के दौरान वह कोरापुट के आदिवासी अंचल में दीर्घ समय तक थे। वहाँ आदिवासी के साथ घुल मिलकर बहुत अनुभव प्राप्त किया जो उनकी कहानियों में दिखता है। उन्होनें अनुभव किया है कि सभ्य समाज कैसे उन्हें अनपढ़ समझ कर शोषण करता है। अपनी कहानियों में गंड, परजा, कंध आदि आदिवासियों के संकट, समस्या, संघर्ष को जीवंत और विस्तृत रूप में रेखांकित किया है। ‘पाल भूत’, ‘विस्मृति’, ‘यज्ञ आहुति’ और ‘चींटी’ जैसी कहानियों में इसका यथार्थ परिचय मिलता है। ‘पाल भूत’ कहानी में वे आदिवासियों की जीवनधारा को कुछ इस प्रकार रेखांकित करते हैं- “सवेंरे सवेंरे खेती के लिए निकल पड़ते हैं ठंडी के महीने में जानवरों से फसल को बचाने के लिए वह रातभर जागते है। पर वह बाजार में बहुत कम रुपयों में खरीदा जाता है। साथ ही वह मुर्गा, बकरी बेचकर कुछ और पैसा इकट्ठे करते हैं जो महाजन के कर्ज पर न्योछावर हो जाते हैं और वह कर्ज कभी नहीं छूटता, उल्टा बढ़ता जाता है।”[12] ‘विस्मृति’ कहानी में कोरापुट के परजा जनजातियों के युवक-युवती का एक जीता जागता रूप अंकित हुआ है। कैसे वह जंगल के अंदर पोडू खेती, पत्थर काटना, ठाकुर पूजन, बकरी चराना आदि सरल सहज रूप से करते हैं।

कान्हुचरण महान्ति की ‘प्राणजू’ और ‘जी हुकुम’ कहानी में जनजातियों के जीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। जलंधर देव की ‘गौरी और कान्हु’ आदिवासी भुआँ संप्रदाय की प्रतिभा और स्वाभिमान का चित्र है। इस कहानी में भूआँ जाति की युवती गौरी, गौड़ जाति के युवक कान्हु से विवाह करती है। जिससे कान्हु को समाज से बाहर कर दिया गया। इस घटना का विरोध किया गौरी के भाई ने। वह कान्हु को साहस देता है कि जातिगत संकीर्णता से ऊपर उठने के लिए वह समाज के आगे झुके नहीं बल्कि संघर्ष करे। इस प्रकार आदिवासियों के यहाँ भी जाति गत संकीर्णता देखने को मिलती है।

प्राणबंधु कर की कहानी ‘हिंसा’ में आदिवासी चरित्र के स्वाभिमान का निर्देशन हुआ है। बामाचरण मित्र की ‘अपराधी’ कहानी एक भिन्न प्रकार की आदिवासी कहानी है। जहाँ कहानीकार एक विचारक के रूप में आदिवासी मनुष्य

के चारित्रिक विशिष्टता को रेखांकित करते हैं। चंद्रमाधव मिश्र की कहानी ‘चंद्राहत’ भी आदिवासियों की जीवन शैली का जीता जागता रूप है। इसमें जाजपुर और कोरापुट के घोर जंगल में जाकर आदिवासियों के साथ रहना दिखाया गया है। वहाँ उनके चांगु वाद्य, युवतियों का विवाह, उन्मुक्त संगीत, नृत्य और महुआ नशा को देखकर कथावाचक का हृदय पूरित हो उठता है। सातकड़ी होता रचित ‘किरिवुर के राजा’ कहानी में आदिवासियों और खनन करने वाले मालिको के बीच संघर्ष दिखाया गया है। किरिवर पहाड़ की तल प्रदेश में आदिवासियों का निवास कितने युग से है, वहाँ के झरने का पानी, वहाँ के पेड़ो का फल मूल खा पीकर वह जीते आए हैं। अब वहाँ लोहे की खनन के लिए उस पहाड़ को तोड़ा जा रहा है। सारे आदिवासियों ने इसका विरोध किया, उनके यंत्र और मशीन को ध्वस्त कर दिया गया। इस प्रकार बड़े बड़े पूंजीपतियों, मील खदान मालिक के साथ उनकी लड़ाई अनवरत चलती रहती है। सुरेंद्र महान्ति की ‘खदान’ कहानी में भी इसप्रकार का संघर्ष उकेरा गया है। डॉक्टर कृष्ण प्रसाद मिश्रा की ‘अरण्य और उपवन’ कहानी में ये दिखाया गया है कि किस प्रकार सभ्य और शिक्षित मनुष्य अपने यौवन लालसा को बुझाने के लिए सरल और निरीह आदिवासी युवती को फंसा लेता है। शारीरिक आवश्यकता पूर्ति हो जाने के बाद उन्हें उपेक्षा कर और कहीँ चला जाता है। ‘चैती महत्ता’ कहानी में लेखक विपिन बिहारी आदिवासी संस्कृति के त्योहार पर्व को भी दिखाया है। चैती त्योहार के उपलक्ष्य में ‘परजा’ जनजाति के युवक युवतियाँ का उन्मुक्त नृत्य, उनका संगीत भोज आदि का सुंदर वर्णन किया है। की ‘नया गांव और नया ठाकुर’, ‘चंपा फूल’, ‘मिट्टी और मनुष्य’ आदि कहानियों में आदिवासियों की दैनिक जीवन की घटना, घात, प्रति घात, संघर्ष, प्रेम, बिच्छेद. अभाव, शोषण, संस्कार, कुसंस्कार, धर्म, विश्वास, पाप और पुण्य आदि की बातें उल्लेखनीय है।

उत्तम कुमार प्रधान की ‘नचिकेता के हाथ’ तथा ‘ठेलको’ कहानी में किस प्रकार सम्भ्रांत वर्ग आदिवासी छात्रों और विद्यार्थियों की योग्यता और प्रतिभा को कुचलते हैं, इसे दिखाया गया है। कॉलेज की वार्षिकी स्पोर्ट्स में आदिवासी युवक ठेलको खेल कूद में सबसे आगे रहा पर उसे आगे राज्यस्तरीय खेल और पुरस्कार से इसलिए वंचित कर दिया गया कि वह आदिवासी है। और उसी के स्थान पर डॉक्टर सुधांशु मिश्र के बच्चे को भेज दिया गया। ठेलको पढाई में भी अच्छा था, उस पर परीक्षा में नकल का झूठा आरोप लगाकर उसकी पढ़ने वाली प्रतिभा का गला घोंट दिया गया। इस प्रकार गौर पटनायक की ‘कुल्हाड़ी’, सुरेंद्र नाथ मिश्र की ‘जूलिया बहन’ जिसमें पढ़ने वाले आदिवासी समाज का किस प्रकार गला घोंट दिया जाता है। इस चीज़ का ज़िक्र किया गया है। हृषिकेश पंडा की ‘बंडा और सिसिफस’, उज्ज्वल पाढ़ी की ‘छाया आलोक के नाच’ लक्ष्मीधर सेनापति की ‘फूल रानी’, गुरूप्रसाद महान्ति की ‘रक्त मंदार’ आदि कहानियों में आदिवासी युवक-युवतियों के अंतर्द्वंद्व और मानसिकता का चित्रण किया है।

इसके अलावा विभूति पट्टनायक की ‘आँख’, ‘हाकिम बाबू’, विपिन बिहारी मिश्र की ‘यंग’ आदि में आदिवासियों को यहाँ जो मिथक, रीति-रिवाज, अंध विश्वास, परंपरा है उस पर नजर दौड़ाई गई है। कैसे जनजाति लोग बाघ को दूध पिलाने का विश्वास रखते हैं और जब उसे दूध नहीं दिया जाता है तो कैसे वह गांव पर आक्रमण करता है। इन सब का चित्र इन कहानियों में दिखता है।

इसके अलावा समकालीन ओडिआ कहानी में काम-सेक्स, उत्तर आधुनिकता, अस्तित्ववाद आदि पर भी अपनी कलम चलाकर समकालीन कहानी एक नये वेग, नयी वेश-भूषा, और नई तकनीक एवं विचारधारा के साथ आगे बढा रहे हैं। समकालीन कहानी में पुराने, नए, स्त्री, पुरुष, सभी अविराम गति से कहानी साहित्य का सृजन करते रहे है साथ ही जीवन की जटिल और व्यापक यथार्थ को सीधी और बेबाक तरिके से समकालीन कहानीकार कह देता है यही समकलीन साहित्य की खासियत है। इसमें जहाँ शिल्प की नीवनता है भाव बोध और उद्देश्य की नवीनता है, वहीं भाषागत नवीनता भी विद्यमान है। आज की कहानी बदली हुई मानसिकता की कहानी है। समकालीन कहानीकार अनुभुत सत्य के प्रति अधिक आग्रह रखता है। अनेक नारों और वादों से निकलकर समकालीन कहानी पुनः अपने सहज और सन्तुलित रूप को प्राप्त कर रही है। साथ ही विसंगतियों से सीधा साक्षात्कार करती हुई जीवन के भोगे हुए सत्यों को ईमानदारी व प्रखरता के साथ अभिव्यक्त करती हुई प्रगति पथ पर अग्रसर है।

## संदर्भ ग्रंथ


1. पांडव, शत्रुघ्न, पचाश वर्षर ओड़िआ गल्प साहित्य, पृष्ठ- 164
2. दास, मनोज, तीसरा प्राण, पृष्ठ-194
3. साहु, महापात्र नीलमणि, सुमित्रा की हंसी, पृष्ठ-70
4. वराल, रवि नारायण, शिखंडी की आत्मलिपि, पृष्ठ-6
5. सामल, प्रो.वैष्णव चरण, ओड़िआ गल्प; उन्मेष ओ उत्तरण, पृष्ठ-224
6. सामंतराय, डॉ. नटवर, ओड़िआ साहित्यर इतिहास, पृष्ठ- 535
7. महांति, सुरेंद्र नीम ज्योत्स्ना, पृष्ठ -9
8. वही, पृष्ठ-17
9. सामल, प्रो.वैष्णव चरण ओड़िआ गल्प; उन्मेष ओ उत्तरण, पृष्ठ-287
10. दास, किशोरि चरण, बच्चा रो रहा है- पृष्ठ-17
11. पट्नायक, अखिल मोहन, पौष की एक रात, पृष्ठ-7
12. महांति, गोपिनाथ पालभूत, पृष्ठ-24

सहायक ग्रंथ-

I. प्रो.वैष्णव चरण सामल, ओड़िआ गल्प; उन्मेष ओ उत्तरण।
II. डॉ. कविता वारिक, शहे वर्षर आधुनिक ओड़िआ क्षुद्र गल्प एक तात्विक विश्लेषण।
III. डॉ. नटवर सामंतराय, ओड़िआ साहित्यर इतिहास



*बिश्वजीत कलता, शोधार्थी, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।*

*सम्पर्क- 8917461954, kaltarilu@gmail.com*

(शोध आलेख)

# अरुणाचल प्रदेश के गालो जनजाति: समाज एवं संस्कृति
## (‘मिनाम’ उपन्यास के विशेष संदर्भ में)

उद्देश्य सिंह

अरुणाचल प्रदेश अपने नैसर्गिक, सदाबहार घाटियों, वनाच्छादित पर्वतों, बहुरंगी संस्कृति, संग्रह विरासत, बहुजातीय समाज, भाषायी वैविध्य एवं नयनाभिराम वन्य प्राणियों के कारण देश में विशिष्ट स्थान रखता है। अरुणाचल प्रदेश की जनसंख्या में सर्वाधिक हिस्सा जनजातियों का है। अरुणाचल प्रदेश में मुख्यत: 26 जनजातियां पाई जाती हैं, 100 से भी अधिक उपजनजातियां है। गालो जनजाति अरुणाचल प्रदेश की प्रमुख जनजाति है।‘मिनाम’ अरुणाचल प्रदेश के गालो जनजाति पर केन्द्रित उपन्यास है। जिसकी लेखिका मोर्जुम लोयी है। यह एक उपन्यास एक आदिवासी स्त्री के संघर्ष पर आधारित है। गालो अरुणाचल प्रदेश की प्रमुख जनजातियों में है। मिनाम उपन्यास में ‘गालो’ जनजाति की विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक मान्यताओं पर आधारित उपन्यास है। इसमें गालो जनजाति की परम्पराएँ, त्योहार, रहन-सहन, खान-पान, पूजा-अनुष्ठान, आभूषण व पोशके, शिल्प–कला, और वास्तुकला आदि तथा लोककलाएँ अपनी विशिष्टता के साथ विद्यमान है।

गालो जनजाति अरुणाचल प्रदेश के पूर्वी सियाङ, पश्चिमी सियाङ, अपर सुबनसिरी, लोअर सियाङ, और लेपारादा जिलों में निवास करती हैं। गालो जनजाति के लोग मिलनसार व्यक्तित्व, साफ-सफाई, स्वादिष्ट स्थानीय व्यंजन, और अतिथि सत्कार के लिए पहचाने जाते है। “अतिथि देवो भवः’ की संस्कृति उनमें प्रमुखता से देखी जा सकती है। ‘गालो जनजाति सर्वाधिक शिक्षित जनजातियों में शामिल है। यह लोग मंगोलियन नस्ल के, मझले कद के होते हैं। गालो लोग स्वयं को ‘आबो तानी’(आदि मानव) के वंशज मानते है । पहाड़ी प्रदेश के नाते अरुणाचल के अन्य जनजातियों की तरह गालो समुदाय का जनजीवन भी कृषि पर निर्भर है। इनकी जीवन-शैली इनकी सनातन संस्कृति का ज्वलंत उदाहरण है।

उपन्यास को इक्कीस प्रकरणों में विभाजित किया गया है प्रत्येक प्रकरण एक प्रमुख सन्दर्भ को उद्घाटित करता है। उपन्यास का पहला प्रकरण ‘अरुणाचल प्रदेश’ है जो अरुणाचल की भौगोलिक और प्राकृतिक स्थिति का वर्णन करता है साथ ही अरुणाचल के गालो समाज की सामाजिक संरचना और गालो जनजाति के संस्कृति का परिचय प्रदान करता है।

*“20वीं शताब्दी के शुरू तक अरुणाचल में गाँव-गाँव के बीच युद्ध चल रहा था। उस समय गाँव को ऐसी-ऐसी जगह पर बसाया जाता था जहाँ दुश्मन आसानी से आक्रमण कर न सके-किसी पर्वत की ढलान पर*

*अथवा किसी गुप्त घाटियों पर बसाया जाता था। गाँव के नाम को पास के बहने वाले झरने अथवा पहाड़ के नाम पर, किसी सुखद या दुःखद स्मृति में, उस गाँव में निवास करने वाले विशेष समुदाय के नाम पर अथवा किसी स्थानीय विशेषताओं पर रखा जाता था। गालो गाँवों के नाम भी इसी आधार पर हैं।"*[1]

गालो जनजाति के लोग मुख्य रूप से गाँव में बसे हैं। गालो भाषा में गाँव के लिए 'दोलू' शब्द का प्रयोग है। इनकी बस्तियाँ नदियों के आस-पास ही पाई जाती है। गालो समुदाय के गाँवों और घरों की बनावट एक ही तरह की होती है। एक गाँव से दूसरे गाँव की सीमा पहाड़ियों या नदियों के जलधाराओं से निर्धारित होती है। इस सीमा के अन्दर रहकर ही वे अपनी खेती, शिकार, मकान के लिए लकड़ी एवं पत्ते एकत्रित करते हैं तथा अपनी आवश्यकता की सारी सामग्री इन्हीं जंगलों से इकट्ठा करते हैं। इनकी सीमा के अन्दर बहने वाली नदियों की मछलियों आदि पर इनका पूर्ण अधिकार होता है। किसी अन्य गाँव के सदस्य इस पर हस्तक्षेप नहीं कर सकते। अपने गाँव की मर्यादा की रक्षा में ये लोग सदा तैयार रहते हैं। गालो समाज दुनिया के अन्य समाज से भिन्न नहीं है। यह समाज भी पितृसत्तात्मक समाज है। पिता घर के प्रधान होते हैं। घर का संचालन उसी के हाथों में होता है। घर के सारे निर्णय भी उसके द्वारा ही होता है। यह एक ऐसा समाज है जहाँ संपत्ति खासकर जमीन-जायदाद बेटों को दिया जाता है। इस समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये लोग संयुक्त परिवार में रहते हैं। प्रायः एक ही मकान में परिवार के प्रधान, उसकी पत्नी, उसके विवाहित लड़के अपनी पत्नियों के साथ, अविवाहित लड़के एवं लड़कियाँ आदि रहते हैं। घर के सारे काम- काज, खाना पकाना, जंगल से लकड़ी एवं सब्जी लाना, पालतू पशुओं, मुर्गों की देखभाल घर की औरतें करती हैं। धनार्जन करना तथा नये उपजाऊ जमीन की सफाई करना पुरुषों का काम होता है। बच्चों की देखभाल दोनों मिलकर करते हैं।

उपन्यास में ग्रामीण जीवन का चित्रण लेखिका ने 'ईटानगर' और 'मोदी ग्राम' प्रकरण में किया है। साथ ही गालो समाज में शिक्षा,स्वाथ्य,रोटी और मकान जैसी बुनियादी जरूरतों की हकीकत सामने रखी है। आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी ये मनुष्य की बुनियादी जरूरते किस प्रकार अधूरी है इसमें मात्र सरकारों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। आदमी को अपने हक के लिए स्वयं लड़ना चाहिए। जिसे हम उपन्यास की दो स्त्री पात्रों 'यामी' और 'मिनाम' के माध्यम से देख सकते है।

शिक्षा व्यवस्था की तंग हालत से लेखिका ने बड़ी गंभीरता के साथ 'यामी' के माध्यम से अपने पाठक को रूबरू कराने का प्रयास किया है।'यामी' जो 'गवर्नमेंट कॉलेज ईटानगर' से अपनी पढ़ाई कर रही है। यामी एक सहज, सरल और मेधावी छात्रा है और शिक्षको की प्रिय छात्र भी। यामी अपने कॉलेज द्वारा आयोजित पांच दिवसीय राष्ट्रीय सेवा योजना के कैंप में एक दूर-दराज़ के गांव में जाती है तो उसका हृदय विस्मय,

दुःख और निराशा से भर जाता है उसको अपनी आंखों पर विश्वास ही नहीं होता कि यह एक गांव है वहां की हालत बिल्कुल भिन्न है न वहां शिक्षा की व्यवस्था है न ही स्वास्थ्य की। गांव में किसी के घर शौचालय नहीं हैं। जहां गांव के लोग सुअर के किए गुमिर( सुअर रखने की जगह)बनाते हैं वहीं शौच भी करते हैं और फिर उसी सुअर को खाते भी है। जिसके चलते लोगों को खतरनाक बीमारियों से जूझना पड़ता है। इस दुर्दशा का जिम्मेवार कौन?

लेखिका मोर्जुम लोयी लिखती है कि राज्य सरकार ने लगभग हर गाँव मे शिक्षा का प्रबंध कर रखा है। पर दूर-दराज इलाकों में जिस किसी भी शिक्षक को भेजते हैं, वो वहाँ रहता ही नहीं। सरकार से वेतन तो लेते हैं पर काम नहीं करते हैं। यह समस्या केवल अरुणाचल प्रदेश के ग्रामीण इलाकों की नहीं है, बल्कि पूरे देश में शिक्षा व्यवस्था का लगभग यही हाल है। समस्या के साथ-साथ,समाधान की भी चर्चा की गयी है-*"तो क्या सरकार कुछ एक्शन नहीं ले सकती उनके खिलाफ? चिंतित स्वर में यामी ने पूछा। अखबारों व न्यूज चैनलों में देखना और स्वयं अपनी आँखों से देखने में बहुत अंतर है। हम पूरे भारत को एक दिन में बदल तो नहीं सकते पर अपने गाँव व कस्बों से बदलाव का आरम्भ कर सकते हैं, पर सरकार ऐसे शिक्षकों को क्यूँ कुछ नहीं कहती ? यामी चिंतित स्वर में कह उठी। किसी को पता चले तब न। अब पहली बात तो यह है कि वहाँ जाता कौन है? न ही गाँव वालों की ओर से कोई शिकायत उन तक पहुंचती है... "आजा की बात को बीच में ही काटकर यामी बोली –"क्यूं न हम स्वयं सेवकों का गठन करें और ऐसे गाँवों में जाकर अपनी सेवा दें? उन्हें शिक्षित करें ? कम से कम स्वच्छता के बारे में उन्हें बता सकते हैं।"*[2]

'मोदी ग्राम' नामक प्रकरण में गालो जनजाति के ग्रामीण इलाकों, जीवन शैली, और उनके घरों की बनावट तथा घरों के प्रत्येक स्थान के महत्व को बताया गया है। मोदी ग्राम जो यामी का गांव है। मोदी अर्थात् पहाड़। पहाड़ को वहां 'दीते' भी कहते हैं।गालो जनजाति के घरों की बनावट अलग तरह की होती है इनके घर बांस के बने होते है। तथा घरों के प्रत्येक स्थान का अलग मतलब होता है। गालो समाज में घर चार दिशाओं व कोनों में विभाजित किए जाते हैं,- ञोदे में घर के बड़े-बुजुर्ग अर्थात् दादा-दादी, बागों में पिता या घर के मर्द, उदु में लड़कियां तथा ञोसी में घर की अन्य वह महिला जिसके ऊपर घर की सारी जिम्मेदारियां हैं,जैसे– खाना आदि बनाना। उदाहरण के लिए-

'कोबा' (सीढ़िया) के महत्व को – घरो में दो कोबा अर्थात् मर्दों के लिए अलग और महिलाओं के लिए अलग।ऐसा इसलिए कि गालो समाज में मान्यता है कि जो यामी के 'आने' (माँ) के द्वारा बताया गया – *"आने ने बताय कि मासिक धर्म होने के बाद से लड़कियों को इस कोबा से उठना निषेध है है। आमतौर पर घर के मर्द नदी और जंगलो में शिकार खेलने जाते हैं, अगर लड़की मासिक धर्म के बाद और मासिक धर्म*

*के दौरान मर्दों वाला स्थान या चीजों का प्रयोग करती हैं तो उन मर्दों को 'गाम्मा' हो जाता है अर्थात् वे शिकार पाने में नाकामयाब हो जाता है। यही 'नहीं' वे 'केबा' यानी किसी मसले के लिए किए गए सभा आदि में अपना पक्ष नहीं रख पाते या बात नहीं कर पाते है"।*[3]

उपन्यास में गालो जनजाति के विशेष कलाकृतियों और हस्तकला का उल्लेख प्रमुखता के साथ किया गया है। गालो समुदाय अपनी कलाकृति विशेष के किए पहचाना भी जाता है।बांस, बेंतो, लकड़ियों तथा पत्थरों की कलाकृतियों का प्रदर्शन और उपयोग कोई इनसे सीखें। यद्यपि अरुणाचल प्रदेश की अन्य जनजतियां भी बांस व लकड़ी से बनी वस्तुओं का उपयोग अपनी आवश्यकता अनुसार करते है क्योंकि कहा जाता है कि 'आवश्यकता ही अविष्कार की जननी है।'

गालो जनजाति की प्रमुख कलाकृतियां और उपयोग –

"•**तिर्दु** (नदी, नालों से मछली पकड़ने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।)

•**तिर्काक** (स्थानीय पेय पदार्थ 'पोका' यानी मदिरा पीने के लिए बांस से बना प्याला)

• **पिञी** (बांस या लकड़ी से बना चम्मच, पोका चलाने या परोसने के काम में इसका इस्तेमाल किया जाता है)

•**राजू** – (मछली पकड़ने की शुण्डाकार वस्तु, महिलाओं द्वारा इसका इस्तेमाल किया जाता है)

•**हिलेक** – (बॉस से बना लम्बे आकार का मटका)

• **पाकू** – (लकड़ी या बॉस बनी थाली)

**राजू, ताकोम और इंदिर** (जालीनुमा टोकेरी, जलीय जीवों को पकड़ने के लिए, ताकोम और इंदिर- पुरुषों द्वारा प्रयोग की जाती है।)

गालो जनजति में बॉस का विशेष महत्व दिखाई देता है, जैसे- **इगिन, आम्कुर, हीदूम या आपुम, पेसे, ओपो ओसी** आदि ये सभी बॉस से बनी होती है। सभी धान को खेत से घर और फिर चूल्हे तक लाने के में प्रयोग की जाती है।

•**इगिन** – धान की कटाई के दौरान प्रयोग में लायी जाती है। (छोटे आकार की टोकरी)

•**आम्कुर** - बड़े आकार की टोकरी।

**•दोसी गिनसी** – यह बांस से बनी होती है, जिसका प्रयोग सिर्फ नासू से धान निकालने तथा अन्य शुभ कार्य जैसे – हूरिन-आंपिर जैसी अनुष्ठान आदि में होता है। इसका प्रयोग घर की महिलाएं करती हैं।

**•रापको** – चूल्हे के ऊपर लटकाए जाने वाले मचान या रैक।

**•हीपार या देकी** – ओखली, जो बड़े बड़े पेड़ों के तने के निचले भाग से बनाई जाती है, जो धान इत्यादि कूटने के काम आती है।

**•एजि हुमनाम** – महिला केंद्रित हस्तकला है। इसमें गालो स्त्रियां बॉस और लकड़ियों से बनी रुबु और ताप की मदद से सूत आदि से **बेसेक या गाले** (महिलाओं का लपेटकर नीचे पहननेवाली वस्त्र, **जेपे-जेया** (ओदने बिछानेवाला वस्त्र), **शॉल**, **ताम्गो** (पुरुषों की अचकन) आदि बुनाई का कार्य करती है। सूत की हर धागे की हर रेशे में यह स्त्रियां अपनी प्रेम और कलाकृति में निपुणता का परिचय देती है। विभिन्न रंगों के धागों में, विभिन्न प्रकार की डिजाइन रचती या बनाती हैं। गालो स्त्रियों की पहचान इन्हीं बनी हुई जैसे **कोरे नामक बेसेक** से होती है। गाले शब्द पादाम जनजातियों का शब्द है। गालो में इसे **बेदु बेसेक** कहा जाता है।[4]

गालो जनजाति में बांस का विशेष महत्व है। बांस और बांस से निर्मित वस्तुएं यहाँ के त्योहार, पूजा-अनुष्ठान और घर की उपयोगिता के अनुसार लगभग हर चीज में शामिल है। लेखिका कहती है – "*इस प्रकार गालो जनजाति का जीवन बाँस के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। कोई भी खान-पान और पूजा-अनुष्ठान इसके बिना अधूर है। इस प्रकार कृषक जीवन की एक श्रृंखलाबद्ध कथा हम देख सकते हैं।*"[5] इसके अतिरिक्त अन्य कलाकृतियों का परिचय और उपयोग के संबंध में उपन्यास में चर्चा की गयी है। साथ ही साथ माप-तौल की गणना का भी उल्लेख भी किया है। जैसे- चालीस इंगिन को और अस्सी को रोञी कहकर उसका हिसाब लगाते है।तथा जरूरत को मद्देनज़र रखते हुए आवश्यकतानुसार वस्तुओं के उपयोग का वर्णन भी किया गया है।

गालो समुदाय अपनी कलाकृति और हस्तकला के अतिरिक्त स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों तथा उनके विशेष महत्व के लिए भी जाना जाता है। जिसका उल्लेख भी उपन्यास में मिलता है। जैसे –

**"पोका (स्थानीय पेय पदार्थ)-** कोई भी कार्य बिना पोका के सम्पन्न नहीं होता ।खेतों में धान रोपने से लेकर, कटाई तक और **नासू** (धान का गोदाम) तक लाने में आरंभ और अंत दोनों समय पोका और आमिन-ताके बनाया जाता है।**पोका** (मदिरा) परोसने का भी एक तरीका होता है। पहले-पहले निकलने वाले रस अर्थात् पोका घर के बड़ों को तिर्काक में दिया जाता है।

**आमिन**- चावल के छोटे-छोटे टुकडों से बनाया जाता है। इसमें मांस-मछलियाँ विशेषत: सूखे मांस-मछलियों के साथ बनाया जाता है।

**ताके** – (अदरक) आमिन बनने के बाद ऊपर से मिलाया जाता है।

**आमिन-ताके** गालो जनजाति के अत्यंत शुभ माने जाने वाले व्यंजन में से है। इसलिए, आत्महत्या, दुर्घटना में किसी की मौत आदि के समय यह नहीं बनाया जाता है, बल्कि महीनों-सालों तक इसे घर पर नहीं बनाया जाता है।

**रारो-** जंगली पत्ते की सब्जी।

**एक्काम- (** एक खास प्रकार के बड़े पत्ते, जिसमें खाना खाया जाता है)इसके नये पत्ते या कोपले शादी में वर-वधू के आदान-प्रदान यानी  'कोपु जिलिक नाम ' में काम आती है ।इसका विशेष महत्व है।

**बेलाम** – जंगली बेर।**"6**

उपन्यास में गालो जनजाति के पूजा, अनुष्ठान, वनस्पति और प्रकृति के साथ उनके सम्बन्ध का चित्रण प्रस्तुत किया गया है।गालो जनजाति में प्रकृति की उपासना की जाती है। गालो समुदाय ही नहीं, लगभग प्रत्येक जनजातीय समुदाय प्रकृति की उपासना करते है। गालो समाज के लोग दोञी- पोलो (सूर्य व चन्द्रमा) के उपासक है। वे प्रकृति पूजा को विशेष महत्व देते हैं। दोञी अर्थात् माता (सूर्य), पोलो अर्थात् पिता (चन्द्रमा)। 'सीसी- मदों'(पृथ्वी- आकाश) की पूजा करते है। "*किसी समाज का उत्कर्ष एवं अपकर्ष धर्माश्रित है। धर्म के प्रति गालो जनजातियों की आस्था अटूट है। यह लोग प्रकृति की पूजा करते हैं। ये 'दोषी-पोलो' (सूर्य-चन्द्रमा) 'सीसी-मदो' (पृथ्वी आकाश) की पूजा करते हैं। दुष्ट या हितैषी आत्माओं को सन्तुष्ट करने के लिए वे पशु बलि देते हैं, जिसे 'उई मोनाम' (पिशाच पूजा) कहते हैं। 'उई' (अदृश्य शक्तियाँ) दुष्ट या हितैषी दोनों हो सकते हैं। गालों में ऐसी मान्यता है कि 'उई' की कुदृष्टि से स्वयं को बचाने के लिए पारम्परिक विधियों से उन्हें प्रसन्न रखते हैं। विभिन्न समयों पर भूत-प्रेतों की पूजा-विधियां चलती रहती है। 'उई' (प्रेत) तब तक आदमी को नहीं छोड़ती जब तक उन्हें उनके अनुरूप चढ़ावा नहीं चढ़ता। इस दुष्ट शक्ति या प्रेत के प्रकोप का पता 'न्यीबो' (पुजारी) द्वारा लगाया जाता है। इसलिए गालो समाज में 'न्यीबो' का विशिष्ट स्थान है। वह धर्मस्वरूप, ईश्वरीय शक्ति का प्रतिनिधि है। 'न्यीबो' ही दुष्टात्माओं के स्वभाव, माँग, ताकत इत्यादि का अपनी अलौकिक शक्ति 'उई' से वार्तालाप कर पता लगा सकता है तथा भूत-प्रेतों से छुटकारा भी दिला सकता है।*"[7] गालो समाज संस्कृति सम्पन्न समाज है। गालो जनजाति स्वयं को 'आबो – तानी'(आदिमानव) का वंशज मानते हैं। गालो जनजाति की विशेष पहचान अपनी समृद्ध संस्कृति के

कारण होती है। *"ये लोग स्वयं को 'आबो-तानी' के वंशज मानते हैं। इनका यह मानना है कि 'आबो तानी' मानव होते हुए भी उनके पास दैविक शक्तियाँ थीं। इनका मानना है कि आदिकाल में सारा ब्रह्मांड अन्धकारमय था। उस समय धरती और आकाश का कोई अन्तर नहीं था। 'जिमी आने' (सृष्टिकर्ता देवी) ने धरती और आकाश को अलग किया। दिन, रात, ऋतु, पर्वत, भूमि, जल, वृक्ष, जीव-जन्तुओं की सृष्टि भी उसी जिमी ने किया। इस प्रकार यह धरती प्राणी के रहने के लायक हो गई। गालो का ऐसी सृष्टि-विषयक आख्यान है।"*[8] गालो जनजाति की संस्कृति को हम वहां के त्योहारों, विवाह प्रथा, विवाह संबंध, बच्चों के नामकरण, मृत्यु संबंधी विश्वास तथा संस्कार, लोक नृत्य तथा जीवन निर्वाह के विभिन्न तरीकों आदि से जान और समझ सकते है। गालो जनजाति का प्रमुख त्योहार 'मोपिन' है। मोपिन मानव कल्पण, अच्छी फसल तथा सुख-समृद्धि एवं एकता के लिए प्रत्येक वर्ष अप्रैल और मई महीने में मनाया जाता है। मोपित के अतिरिक्त गालो समाज में 'मारी, 'आम्पू', आलो' भी मनाते हैं। मोपिन पर्व मुख्यत: कृषि से जिरमेन जुड़ा है। यह प्रकृति सहचरी और खेत कल्याण का पर्व है, जिसे वसन्त का उल्लासमय त्योहार भी कहा जा सकता है। *"मोपिन पर्व की शुरुवात प्राचीन काल में अपने सुख और वैभव के लिए 'ताकार ताज़ी' नामक व्याक्ति को अपने घर 'टोगु' (दस मिथुन बलि देने का पर्व) उत्सव मनाया जाता था। दूर-दूर के अनेक मेहमान आमंत्रित थे। पर्व में 'आबो तानी' (मानव पिता) को नहीं बुलाया गया था।"*[9] इसी लोककथा के आधार पर गालो समाज में मोपिन पर्व' की शुरुवात मानी जाती है। इस त्योहार में बच्चें, बूढ़े, जवान सभी लोग शामिल होते हैं और सभी श्वेत वस्त्र पहनते हैं। इस त्योहार में 'अतिथि देवो भव:' की संस्कृति केन्द्र में है। मोपिन त्योहार का सबसे प्रमुख भाग **'पोपीर नृत्य'** है। इस नृत्य में किसी भी प्रकार की लिंग और आयु-सीमा बाधक नहीं है। जो गालो समाज में समानता का प्रतीक है। मोपिन 4 से 5 दिन तक चलता है, जिसमें शुरू से अंत तक लोग उत्साह के साथ से एक-दूसरे के चेहरे पर 'इती' (पिसा हुआ श्वेत चावल) लगाते है। मोपिन के अलावा **'आम्पिर', 'मोद', 'तोगु'** आदि व्यक्तिगत रूप से मनाया जाता है। यह भी परिवर के कल्याण, सुख-समृद्धि आदि के लिए मनाया जाता है।**'तोगु'** विशेषत: बेटे की शादी से जुडी पूजा होती है। इसमें मिथुन की बलि दी जाती है,**'मिथुन'** गालो समुदाय में विशेष महत्व रखता है, एक प्रकार से धार्मिक पशु है।सभी पर्वो मे पोका (मदिरा) का विशेष महत्व है। तथा साथ ही इन धार्मिक अनुष्ठानों में **'न्यिबो'** (पुरोहित) सर्व सम्मानित व्यक्ति होते हैं।

**गालो जनजाति में बच्चों के नामकरण**– उपन्यास में गालो जनजाति में बच्चों के नामकरण से संबंधित तथ्य प्रस्तुत किये गए हैं। गालो समाज में एक विशेष प्रक्रिया का पालन करते हुए नामकरण सम्पन्न होता है जो अन्य जनजातियों की तुलना में बिल्कुल भिन्न है । 'सुश्री ङाने कायी' और 'सुश्री गोरिक एते' अपने लेख में लिखती है – *"पितृसत्ता या वंशावली परम्परा के कारण बच्चों के नामकरण पिता के नाम की*

*अन्तिम ध्वनि या शब्द से किया जाता है। इनकी ऐसी मान्यता है कि सारे नामकरण पिता के नाम की अन्तिम ध्वनि या शब्द से किया जाता है। इनकी ऐसी मान्यता है कि सारे मानव उत्पत्ति 'सीसी' (पृथ्वी) से हुई है। इसलिए 'सीसी' के पुत्र का नाम है 'सिबुक' फिर 'सिबुक' से 'बुक्सिन', 'बुक्सिन' से 'सिन्तु', 'सिन्तु' से 'तुरिन', 'तुरिन' से 'रिनी' (तानी या आँसे तानी)। 'रिनी' या 'तानी' से सारे मानव जाति का जन्म मानते हैं। गालो समुदाय के अन्दर जितने भी शामिल जातियाँ हैं, अपने वंश की गिनती 'तानी' या 'आबो तानी' से शुरू होती है। जैसे- 'तानी' से 'निको', फिर 'निको' से 'कोतीक' फिर 'कोटिक' से 'तिक्जा' फिर 'जापो' फिर 'पोला' फिर 'लकाक' आदि। इसी वंशावली परंपरा के कारण गालो जनजाति में पुत्र होना अनिवार्य माना जाता है। ऐसी बात नहीं है कि इस समुदाय में बेटी की आवश्यकता नहीं है, बेटी को भी पुत्र के समान स्नेह करते है। फिर भी इनकी मान्यता है कि पुत्र ही वंश को आगे बढ़ाते है। इस वंश परम्परा की खासियत है कि इसके द्वारा आप आसानी से यह पता लगा सकते हैं कि आपके अपने जाति के कोई व्यक्ति रिश्ते में आपके चाचा लगते हैं या भाई या भतीजा।"*[10]

लेखिका उपन्यास में ग्रामीण और शहरी जीवन की तुलना यह कह कर करती है, कि ग्रामीण जीवन में शहरी जीवन कि इतनी सुख-सुविधाएँ तो नहीं है किन्तु यहाँ लोग खुश रहते है। आने (यामी की माँ) कहती है– " *तुम्हारे शहर जैसी 'सुख-सुविधा तो नहीं पर लोग खुश रहते हैं। सबके पास खाने पीने की कोई कभी नहीं है। हम दिन भर खेतों पर काम करके थके हारे घर आते हैं। आमतौर पर लोग खा-पीकर सात बजे तक सो जाते हैं।"*[11] यहाँ पर शहर की तनाव भरी जिंदगी और भौतिक सुख सुविधाओं को एकत्रित करने में जीवन की व्यर्थता का चित्रण देख जा सकता है। ग्रामीण जीवन कितना सुखी और खुशहाल दिखाया गया है। हां यह ज़रूर है कि यहां मनोरंजन के साधनों का आभाव है किन्तु शादी-ब्याह, त्योहार आदि के समय मेहमानों का मनोरंजन लोकगीतों, पारम्परिक नृत्यों आदि के माध्यम से किया जाता है। दूसरा पक्ष यह भी है कि आम दिनों में ग्रामीण जीवन शैली में मनोरंजन का समय ही नहीं है क्योंकि सुबह से शाम तक लोग खेतों में काम करने जाते है और लौटकर आने के बाद इतनी थकान रहती होगी कि मनोरंजन करने का न समय है और न ही दिल करता होगा क्योंकि अगले दिन फिर उसी जीवन शैली से होकर गुजरना है। साथ ही स्त्री की स्थिति के से संबंधित विभिन्न पक्षो को उद्घाटित किया गया है। गालो समाज में स्त्री की स्थिति ठीक वैसी है जैसे एक पुरुष प्रधान या पितृसत्तात्मक समाज में होती है। स्त्री मात्र भोग की वस्तु समझी जाती है। परिवार में तथा समाज में उसे निर्णय का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। यामी कहती है – "*स्त्रियाँ बस भोग की वस्तु है। वे घर संभालने वाली,बच्चा पैदा करने वालों, खेतों में काम करने वाली, जंगल से लकड़िया इकट्ठे करने वाली के अलावा और कुछ नहीं। पुरुष प्रधान समाज में घर का मुखिया भी मर्द, औरतों को घर के किसी भी महत्वपूर्ण कार्य में अपना निर्णय देने का हक नहीं है। पैतृक सम्पत्ति में उसका कोई अधिकार*

*भी नहीं है। फिर भी वे खुश हैं। उन्हें अपने अधिकारों का पता ही नहीं। या यूं कहें, उन्हें कभी जरूरत ही नहीं महसूस हुई।वे पहले से ही मान बैठी है कि मर्द हर तरह से औरत से ताकतवर है और औरत कमजोर। पति जो कहता है, वो पत्थर की लकीर।*"[12] **'यामी'** जो उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र है उसे पितृसत्तामक समाज द्वारा बनाए गए नियमों और कानूनों का दंश झेलना पड़ता है। यामी जब अपने गांव पहुंचती है तो वहां की हालत देखकर उसको सुधारने का निर्णय करती है। यामी अपने गाँव में लोगों को शिक्षित करने में लग जाती है जिसमे कई सारी अड़चने आती है लोग अपने बच्चों खासकर बेटियों को स्कूल नहीं भेजते है क्योंकि काम में उनका हाथ कौन बटायेगा। यामी को गांव आये लगभग एक साल हो गया है वह निरंतर शिक्षा और स्वास्थ्य प्रति लोगों की जागरूक करती है और निरंतर स्कूल में बच्चों को पढ़ाती है। इसी क्रम में वह एक दिन 'तातुम' जो गांव के मुखिया का बिगडैल बेट तथा यामी का हमउम्र या उससे बढ़ा भी हो सकता है, जिसे यामी पढाई के संबंध में और कक्षा में शराब पीकर आने के लिए दण्ड स्वरूप मुर्गा बना देती है।जिसके चलते यामी को इसका खामियाजा भी भुगतना पड़ता हैं और अगले दिन **'लेपा लिङ्नाम'** के तहत यामी को स्कूल से जबरजस्ती उठवाकर उसकी शादी 'तातुम' से कर दी जाती है। **'लेपा लिङ्नाम'** एक ऐसी प्रथा है जिसमें लड़की के मर्जी के खिलाफ उसकी शादी तय कर दी जाती है और इनकार करने पर उसके साथ पशुओं से भी बदतर व्यवहार किया जाता है। उसको जबरन पुरुष के साथ हाथ-पैर बांधकर भूखे-प्यासे बंद कर दिया जाता है, यह सिलसिला तब तक चलता है, जब तक लड़की आत्मसमर्पण न कर दे। कभी-कभी तो बलात्कार जैसे जघन्य अपराध का भी शिकार होना पड़ता है। अन्य समान में इसे 'लाफिया','लेफा' आदि नाम से जाना जाता है। इसी मान्यता का शिकार 'यामी' हो जाती है जिसके बाद उसका सारा जीवन पटरी से बेपटरी हो जाता है। और इसके बाद की जिंदगी द्वंद्वों और संघर्षों से घिर जाती है। यामी अपने जीवन में होने वाले शोषण और अत्याचार को अपनी नियति समझकर परिस्थिति के साथ समझौता कर लेती है। जहाँ एक ओर यामी पितृसत्तात्मक समाज के शोषण के चलते खुद को बेबस और लाचार महसूस करती है तो दूसरी ओर इस परिस्थिति के से निकलने के लिए भी लगातार संघर्ष करती है अपनी दोनों बेटियों की पढ़ाती है और उनको ईटानागर अपनी दोस्त 'आञा' के पास भेज देती है। वह अपनी बेटियों को काबिल बनाना चाहती है।वह संतरे का बिजनेस करती है किन्तु 'तातुम' (यामी का पति) उसके ऊपर मिथ्या आरोप लगाकर उसको हमेशा की तरह पीटता है और आज इतना पीटा की 'यामी' हमेशा के लिए सभी की अलविदा कह देती है। बाद में वह (तातुम) इस बात का अफसोस भी करता है और पश्चाताप की अग्नि में बराबर जलता है किंतु वहीं बात है न कि समय रहते किसी बात पर ध्यान न दिया जाए तो फिर कोई मतलब नहीं। प्रसिद्ध कहावत है कि –"*अब पछताए का होत जब चिड़िया चुग गयी खेत।*"

गालो समाज में **'जिम लाबोनाम'(बहु – विवाह )** की परम्परा भी है।यह मुख्यत: वंश परम्परा से जुड़ा हुआ है गालो समाज पितृसत्तात्मक समाज है जिसमें मान्यता है कि बेटा ही वंश को आगे बढ़ा सकता है क्योंकि पैतृक सम्पति में बेटो का ही हक होता है। किन्तु अब इस प्रथा का पालन पुरुष अपनी अय्याशी के लिए करने लगे है। इसमें गलती सिर्फ पुरुषों की नहीं ये लड़किया अपने से या यों कहे कि अपने से दुगने उम्र के पुरुषों की चिकनी- चुपड़ी बातों या पैसो के लालच में फँस जाती है, तथा ख़ुद का जीवन और सामने वाले परिवार दोनों के जीवन को नरक कर देती है।

इस प्रकार उपन्यास में गालो जनजाति की प्रमुख सामाजिक मान्यताओं और संस्कृति का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। गालो समाज से संबंधित तमाम पक्षों को उद्घाटित करते हुए गालो समाज की अच्छाइयों और बुराईयों दोनों को प्रस्तुत करता है और समान्य पाठक को गालो समाज से रूबरू कराता है।अरुणाचल जनजातीय बहुल प्रदेश है। गालो यहाँ के विशिष्ट जन-जातियों में से एक है। ये लोग बहुत मेहनती होते हैं। पर्वतीय जनजाति होने के कारण वे वन पर आश्रित है। खेती-बाड़ी, पशु-पालन, देव-पूजा तथा वन विहार पर उनके लोक-जीवन निहित हैं। ये लोग स्वावलम्बी होते हैं। रीति-रिवाज, रहन-सहन, पूजा एवं आस्था को बहुत महत्त्व देते हैं। इनकी सांस्कृतिक विरासत बहुत अनमोल एवं मनोरम है।

स्वतन्त्रता से पूर्व गालो भू-भाग आधुनिक सुविधा से कोसों दूर थी। यहाँ न विद्यालय थे और न ही सड़कें। भारत सरकार के प्रयासों से यह अब भारत के अन्य प्रदेशों से जुड़ी हुई है। और निरन्तर प्रगति की राह पर अग्रसर है। अब यहाँ विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय तथा सड़कें भी हैं। यहाँ तक की कृषि-पद्धति में भी सुधार तथा जागरूकता आ गई है। अब यहाँ के लोग आधुनिक तकनीक से खेती करते हैं। लोग उच्च शिक्षा पाकर देश तथा राज्य के उच्च पद में कार्यरत हैं। अब गालो लोग भी देश-दुनिया में जुड़ चुके हैं।

**संदर्भ :-**

**1.**नेगी,स्नेह लता,आदिवासी समाज और साहित्य, अनुज्ञा प्रकाशन, संस्करण: प्रथम,2021,पृ.205.

**2.** लोयी, मोर्जुम, मिनाम (उपन्यास), बोधि प्रकाशन, संस्करण:प्रथम,2020, पृ.17.

**3.** वही, पृ.27.

**4.** वही, पृ.10-11.

**5.** वही**,** पृ.12.

**6.**वही, पृ.10-11**.**

**7**.नेगी,स्नेह लता,आदिवासी समाज और साहित्य, अनुज्ञा प्रकाशन, संस्करण: प्रथम,2021,पृ.207.

**8.** वही, पृ.208.

**9.** वही, पृ.208-209.

**10.** वही, पृ.212.

**11.**लोयी, मोर्जुम, मिनाम (उपन्यास), बोधि प्रकाशन, संस्करण:प्रथम,2020, पृ.30.

**12.** वही, पृ.34.

(शोध आलेख)

# कामायनी कापुनर्मूल्यांकन'की आवश्यकता

संजय साव

लोकभारती प्रकाशन से सन् 1970 ई. में प्रकाशित 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन' डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी की एक उत्कृष्ट आलोचनात्मक कृति है। जिसमें उन्होंने छायावाद के आधार स्तंभ माने जाने वाले कवि जयशंकर प्रसाद की कालजयी रचना 'कामायनी' का गंभीर अध्ययन कर, उन पर उठने वाले प्रश्नों का सामाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस पुस्तक के शीर्षक का आपना एक विशेष अर्थ है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन' शीर्षक में 'पुनर्मूल्यांकन' का एक विशिष्ट अर्थ है - 'फिर से मूल्याकंन'। यहाँ फिर से मूल्य आँकना से अभिप्राय सिर्फ रचना के महत्व को फिर से उजागर करना नहीं है, बल्कि रचना के साथ-साथ उस पर की गई आलोचना-प्रत्यालोचना को स्पष्ट कर उसमें फैले भ्रम का निराकरण करना है और साथ ही साथ तत्कालीन सामाज और साहित्य में उसके महत्व की स्थापना है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी जी का मानना है कि साहित्य में पुनर्मूल्यांकन की बात तब होती है जब किसी कवि, रचना या युग विशेष को देखने-परखने में 'गुणात्मक अंतर' आ जाए। यहाँ 'गुणात्मक अंतर' से अभिप्राय - अब तक एक कृति को जिन बाह्य पक्षों से देखा गया है, उनसे हटकर उसमें निहित गुणों के आधार पर उसकी नवीनता को दर्शाते हुए उसके महत्व का आकलन करना है। पुनर्मूल्यांकन किसी रचना, रचनाकार या युग विशेष को समझने की नयी दृष्टि देता है। इस पुस्तक में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने 'कामायनी' में प्रसाद के श्लाघ्य पक्षों की ओर विद्वानों एवं पाठकों का ध्यान केन्द्रित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

'कामायनी' प्रसाद के सात-आठ वर्षों के परिश्रम का फल है, जिसमें उनके जीवन भर का अनुभव समाहित है। जो किसी एक कथा को लेकर आगे नहीं बढ़ती, बल्कि की द्वयर्थक कथा कहती है। यानी प्रसाद जी ने पौराणिक कथा को आधार बनाकर मानव संस्कृति के निर्माण और विकास की कथा को प्रस्तुत किया है और साथ ही साथ अतिबौद्धिकता, अतिभौतिकता और अतियांत्रिकता से उत्पन्न समस्याओं से आधुनिक मानव को आगाह किया है। कहा जाता है कि – *"कला और साहित्य की जो कृति किसी समाज, संस्कृति और अस्मिता का निर्माण करती है, उन सबको पहचानने, समझने में मदद करती है, वह कालजयी होती है।"* 'कामायनी' के संदर्भ में यह बात उचित ही जान पड़ती है। वह समग्रता को अपने में समेटे हुए है। कदाचित इसीलिए डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी 'कमायनी' के संदर्भ में लिखते हैं कि-" *'कामायनी' हर आधुनिक समीक्षक, और रचनाकार के लिए परिक्षा स्थल है।"*

यह आलोचनात्मक कृति मुख्यतः तीन अध्यायों में विभक्त है। जिसमें डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने विभिन्न विद्वानों के मतों से हमारा परिचय कराते हुए अपने मौलिक चिन्तन को अभिव्यक्ति दी है।

प्रथम अध्याय इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण भाग है जिसमें डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने 'कामायनी' के सभी पक्षों को स्पर्श किया है। उनका मानना है कि *"पुनर्मूल्यांकन एक साथ ही रचना और प्रचलित समीक्षा दृष्टि दोनों का होता है।"* इसीलिए उन्होंने अपने इस अध्याय में प्रसाद कृत 'कामायनी' पर ही नहीं, बल्कि उसके संबंध में विभिन्न विद्वानों के मतों पर भी विचार किया है। हिन्दी जगत में 'कामायनी' के बाह्य पक्षों पर चर्चा अधिक हुई है, परन्तु आन्तरिक पक्षों की ओर विद्वानों का ध्यान बहुत कम गया है। इसी आन्तरिक पक्ष को ध्यान में रखकर डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'कामायनी' के 'गुणात्मक अंतर' को उजागर किया। उनकी दृष्टि में 'कामायनी' को समझने की अब तक की पद्धतियाँ रही हैं - *"महाकाव्य के रूप में, रूपक के रूप में, ऐतिहासिक इतिवृत के रूप में, दार्शनिक रचना के रूप में या ऐसे ही कुछ अन्य पक्षों को आधार बनाकर। पर कामायनी को महाकाव्य की दृष्टि से देखना या उसके चरित्रांकन की व्यख्या करना, उसमें रस की स्थापना करना या रूपक पर बल देना या उसके दर्शन को महत्त्व देने लगना आधुनिक हिंदी काव्य की एक महत्त्वपूर्ण रचना के वैशिष्ट्य को अनदेखा करने का सफल प्रयत्न है।"* यानी चतुर्वेदी जी कामायनी में निहित वैशिष्ट्य के उजागर पर अधिक बल देते हैं। हिंदी के कुछ विद्वान वर्षो से चली आ रही भारतीय परंपरा में प्रचलित महाकाव्य के लक्षणों की कसौटी पर रख कर 'कामायनी' को परखते हैं, जिसका परिणाम यह निकलता है कि 'कामायनी' भारतीय परंपरा में प्रचलित महाकाव्य के ढ़ाँचे में फिट नहीं बैठती है। कुछ विद्वानों की दृष्टि में यह 'कामायनी' की सबसे बड़ी त्रुटि है। यही कारण है कि उसे विभिन्न विद्वानों के आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। 'कामायनी' की यह त्रुटि ही उसकी अपनी मौलिक और नवीन विशेषता है, जो उसे अपने पुर्ववर्ती महाकाव्यों से भिन्न रूप प्रदान करती है। विद्वानों के इस रूढ़ दृष्टि पर तंज कसते हुए डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं कि- *"तो महाकाव्य के रूप में किसी रचना को जाँचने में बराबर यह हुआ है कि जिन रूढ़ियों को कवि ने तोड़ा है उन्हें बलात् ढूँढ़ने की कोशिश की जाय, और पूरी रचना के जिस विशिष्ट विधान को उसने विकसित किया है, उसे नजरअंदाज कर दिया जाय।"* ऐसा ही कुछ 'कामायनी' के साथ भी हुआ है। अतः यह अपनी विशिष्ट रचना विधान के कारण ही अपने पुर्ववर्ती महाकाव्यों से भिन्न है। जैसे महाकाव्य में आठ सर्ग होने चाहिए, पर कामायनी में पन्द्रह सर्ग है। महाकाव्य का नायक धीरोदात्त गुणों से परिपूर्ण होता है जबकि 'कामायनी' के नायक में इसका अभाव दिखता है। इसके प्रारम्भ में मगंलाचरण, सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दा आदि भी नहीं है। साथ-ही-साथ महाकाव्य किसी एक व्यक्ति, एक वंश या एक जाति की जीवन गाथा लेकर चलती है जबकि कामायनी समस्त मानवता

के विकास की कथा कहती है। यह हिंदी साहित्य के महाकाव्य की परंपरा में एक युगांतकारी बदलाव है। जिसे डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने अपने इस आलोचनात्मक कृति में चिन्हित किया है। इसी बात को पुष्ट करते हुए डॉ. भोलानाथ तिवारी भी लिखते हैं कि-*"छायावाद का प्रथम और अंतिम माहाकाव्य 'कामायनी' माहाकाव्यों की परंपरा में एक नूतन अध्याय जोड़ता है। पुर्व प्रचलित महाकाव्यों से अनेक बातों में भिन्न होने के कारण आचार्यों द्वारा निर्मित महाकाव्यों की कसौटी इस सोने की परख करने में असमर्थ है। लक्षण-ग्रंथ बनाए जाते हैं, लक्ष्य ग्रंथों के आधार पर। जब ऐसे लक्ष्य-ग्रंथ थे ही नहीं, तो इसे बाँध पाने वाले लक्षण बनते कैसे?"*

महाकाव्यत्व के अतिरिक्त 'कामायनी' के रूपक तत्व, ऐतिहासिकता, दार्शनिकता पर भी चतुर्वेदी जी ने विचार किया है। वैसे तो 'रूपक' शब्द के कई अर्थ है, परन्तु कामायनी में यह द्वयर्थक कथा के रूप में प्रयुक्त हुई है। मूलतः कामायनी एक साथ दो कथाओं को लेकर चलती है। कामायनी में मनु की कथा के साथ-साथ मानवता के विकास की अन्तरकथा भी आगे बढ़ती है। डॉ. चतुर्वेदी इन दोनों कथाओं को एक साथ जोड़ कर देखने की बात करते है। पर समस्या तो यह है कि इसे अलग-अलग रूप में ही देखा गया है। इसीलिए वे कहते है कि –*"यहाँ भी 'कामायनी' के सूक्ष्म विधान की यह विशेषता नहीं समझी जाती कि – कामायनी की रचना दो अर्थ-स्तरों पर जरूर चलती है। पर अर्थ के ये दोनो स्तर परस्पर एक दूसरे से संश्लिष्ट हैं, इसीलिए एक विराटतर अर्थ की सृष्टि करते हैं।"* यहाँ 'विराटतर अर्थ' से उनका तात्पर्य मानव संस्कृति के निर्माण और विकास से है।

जहाँ तक 'कामायनी' में ऐतिहासिकता का प्रश्न है तो हम यह कह सकते हैं कि कोई भी कला या कृति इतिहास से पुरी तरह पृथक नहीं होती है। प्रत्यक्ष रूप से न सही पर परोक्ष रूप से तो उसका जुड़ाव इतिहास से होता ही है। रचना के पात्र और कथा इतिहास सम्मत भले ही न हो, परन्तु इतना तो अवश्य है कि वह तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से हमें अवगत अवश्य कराते हैं। 'कामायनी' की कथा पौराणिक है एवं उसके पात्र मिथकीय चरित्र है। परन्तु घटनाएँ इतिहास सम्मत जान पड़ती है, विशेषतः 'जल प्लावन' की घटना। भूगर्भ अध्येताओं ने भी इस बात की पुष्टि की है और इस घटना को ईसा से कई सौ वर्ष पहले की मानते है। पाश्चात्य विद्वान डॉ.ट्रिकलर का मानना है कि- *"बालू से दबे हुए प्राचीन नगरों के खण्डहरों को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि हिमालय प्रदेश में कभी न कभी जल प्रलय अवश्य हुई थी।"* प्रसाद जी ने पौराणिक कथा और मिथकीय चरित्रों के माध्यम से सृष्टि के विकास के इतिहास को प्रतिकात्मक ढ़ग से प्रस्तुत किया है। इतिहास और मिथकीय कथा को आधार बनाकर प्रसाद जी ने 'कामायनी' में अपने स्वतंत्र विचारों को अभिव्यक्ति दी है। अतः यह दोनो मिलकर 'कामायनी' में युग सत्य और जीवन सत्य को वाणी

देते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो डॉ. भगवान सिंह ने उचित ही कहा है- *"कोई भी रचनाकार किसी ऐतिहासिक, पौराणिक या मिथकीय कथानक को उनका पुनराख्यान करने के लिए नहीं चुनता, अपितु अपने युगसत्य और जीवनसत्य को व्यक्त करने के लिए उनका चुनाव खास तौर से इसलिए करता है कि वह इनकी स्थानगत और कालगत दूरी का लाभ उठाकर कुछ अधिक स्वतंत्रता से अपने विचारों को मुखर कर सकता है।"* वास्तव में चतुर्वेदी जी ने अपने इस अध्याय में 'कामायनी' के ऐतिहासिकता के संबंध में इसी तत्व को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक 'कामायनी' में दार्शनिकता का प्रश्न है तो यह कहा जा सकता है कि 'कामायनी' में दर्शन अनिवार्य रूप से है। प्रसाद जी दर्शन के कुशल अध्येता थे। उन पर शैव दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। यही कारण है कि कुछ विद्वान अपनी इकहरी दृष्टि के कारण 'कामायनी' को शैव दर्शन का टीका या व्याख्या मानते हैं। काव्य में दर्शन का पुट अपने आप हो जाता है, यह अनुभव से उपजता है। जिसे अनुभूति के द्वरा समझा जा सकता है। इसीलिए डॉ. चतुर्वेदी लिखते हैं कि –*"रचना में दर्शन का कोई अर्थ तभी है जब कि वह अनुभव के स्तर पर आये न कि विवेचन के रूप में।"* (कामायनी का पुनर्मूल्यांकन, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, छठा संस्करण:2003,पृष्ठ संख्या-11) जहाँ काव्य में दर्शन हावी होता है, वहाँ काव्य की प्रक्रिया लुप्त हो जाती है। कामायनी में अभिव्यक्त दर्शन प्रसाद के अनुभव का ही फल है, यह अलग बात है कि इस काव्य के अंतिम तीन सर्गों में दर्शन का विस्तार अधिक हुआ है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि यह किसी दार्शन का टीका है। कामायनी में दर्शन अनुभूति और परिस्थिति के अनुरूप उत्पन्न हुआ है। कामायनी को इन्हीं इकहरी दृष्टियों से देखा-परखा जाता रहा है। यही कारण है कि डॉ. चतुर्वेदी इस अध्याय में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं- *"क्या आधुनिक साहित्य चिंतन की प्रक्रिया में पिछली समीक्षा पद्धति की तुलना में ऐसा कोई गुणात्मक परिवर्तन आया है?"* पहले-पहल यह गुणात्मक परिवर्तन हमें मुक्तिबोध की समीक्षा में देखने को मिलता है। उनकी आलोचनात्मक कृति 'कामायनी : एक पुनर्विचार' को डॉ. चतुर्वेदी 'कामायनी' की समझ को बढ़ाने वाली महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में स्वीकारते हैं। परन्तु उनका मानना है कि– *"मुक्तिबोध की यह समीक्षा निश्चय ही विचारोत्तेजक है तथा और भी अधिक सार्थक हो पाती, यदि वे अपने मार्क्सवादी चिंतन को यहाँ अस्थान पर स्थापित करने का आग्रह न करते।"* इस अध्याय में डॉ.चतुर्वेदी जी ने कामायनी की भाषा पर भी दृष्टिपात किया है। अतः इस अध्याय को इस पुस्तक का सार कहा जा सकता है।

दूसरे अध्याय में चतुर्वेदी जी ने कामायनी की रचना प्रक्रिया पर बल दिया है। वे 'कामायनी' के केन्द्र में तीन बातों की प्रधानता स्वीकारते हैं- पहला मानवीय संस्कृति का विकास, दूसरा उसके मान मूल्यों की प्रक्रिया और तीसरा उसके वर्तमान विभ्रमों का विश्लेषण। जैसा की कामायनी दो कथाओं को लेकर

आगे बढ़ती है- एक ओर तो वह एक पौराणिक कथा कहती है, तो वही दूसरी ओर उस कथा के माध्यम से मानव संस्कृति के विकास की गाथा को सरलता से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करती है और साथ ही साथ उस संस्कृति में फैले विभ्रमों को दूर करती है। असफलता व्यक्ति को मांजता है और उसके व्यक्तित्व को परिष्कृत कर उसे निखारता है। परन्तु आज का आधुनिक मनुष्य असफल होकर निराश होता जा रहा है और उसमें जीवन के प्रति उदासीन भाव जागृत हो रहे हैं जिसका परिणाम भयंकर निकलता है। यह मानवीय संस्कृति के लक्षण नहीं है। इस संस्कृति में संघर्ष और कर्म को विशेष महत्व दिया गया। यही कारण है कि प्रसाद निराश मनु को श्रद्धा के माध्यम से कर्म की प्रेरणा देते हैं- *"एक तुम, यह विस्तृत भू- खण्ड प्रकृति वैभव से भरा अमंद। /कर्म का भोग, भोग का कर्म यही जड़ का चेतन आनन्द।"* संघर्ष और कर्म दोनो एक दूसरे के पूरक है, बिना संघर्ष के कर्म फलीभूत नहीं होता है। अतः चतुर्वेदी जी का कहना उचित ही जान पड़ता है- *"मानव जीवन और संस्कृति के जटिल और संश्लिष्ट रूप को प्रसाद ने कामायनी में उसी जटिलता और संश्लिष्टता में अंकित किया है, और पुनर्रचना की इस प्रक्रिया में उन्होंने हमारी समझ और अनुभव-क्षमता को समृद्धतर किया है।"* किसी कृति की आलोचना करते समय समीक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि उस कृति का सौंदर्य नष्ट न हो यानी कि रचना-दृष्टि विरूप न हो और न ही उस रचना की मौलिक एवं नवीन विशेषताओं को अनदेखा करके उसका विश्लेषण कर उसे एक तत्व दृष्टि के रूप में प्रतिष्ठित किया जाए। जबकि कामायनी को हमेशा वाद विशेष के घेरे में रखकर देखा गया है। जिसका परिणाम यह हुआ कि विद्वानों ने उसे एक वाद (शैवागम) के घेरे से बाहर निकालकर दूसरे वाद (मार्क्सवाद) के ढ़ाँचे में जकड़ दिया है। 'कामायनी' में प्रसाद का उद्देश्य किसी वाद (आनन्दवाद) विशेष की स्थापना करना नहीं है, बल्कि आधुनिक मनुष्य को उनकी समस्याओं से अवगत कराना और जीवन में सामंजस्य स्थापित करना है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने उचित ही कहा है कि- *"मानव जीवन को 'कर्म का भोग, भोग का कर्म' की चक्रीय प्रक्रिया में पहचानने वाले कवि के लिए यह अभीष्ट नहीं कि वह किसी वाद की प्रतिष्ठा के लिए सचेष्ट हो। भारतीय पुनर्जागरण के अधिकतर मनीषियों ने इस बात की चिंता की कि उनकी जीवंत रचना दृष्टि किसी वाद के ढाँचे में न जकड़ दी जाए।"* कामायनी में व्यक्त सांस्कृतिक संघर्ष पर विस्तार से विवेचन करते हुए डॉ. चतुर्वेदी जी ने प्रसाद के कर्म की तुलना गीता में कृष्ण के निष्काम कर्म से करते हुए प्रसाद के 'कर्म का भोग, भोग का कर्म' को मानव मनोविज्ञान के अधिक निकट और व्यवहारिक मानते हैं। यानी प्रसाद जी की दृष्टि जीवन की सहज प्रक्रिया की ओर अधिक है। उनका यह सूत्र वाक्य इसी ओर संकेत करता है। अतः उन्होंने इस अध्याय में 'कामायनी' को दर्शन की परिधि से बाहर निकाल कर उसे काव्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। दर्शन में तर्क और विवेक को विशेष महत्व दिया जाता है, जबकि काव्य में आनन्द को। दर्शन

तत्व की खोज करते हुए व्यावहारिक जीवन से पृथक हो जाता है, जबकि काव्य या साहित्य जीवन के समग्र अनुभव से हमारा परिचय कराता है एवं जीवन की समग्र धारणा को स्पष्ट करता है। यही कारण है कि वे 'कामायनी' को दर्शन नहीं काव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। चतुर्वेदी जी के इन विचारों का प्रभाव आगामी विद्वानों पर भी दिखाई पड़ता है।

तीसरे अध्याय में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कामायनी के भाषिक पक्ष पर स्वतंत्र रूप से विचार किया है। 'कामायनी' की भाषा को लेकर विद्वानों में मत भेद की स्थिति बनी हुई है। कुछ विद्वानों ने 'कामायनी' की भाषा संबंधी भूलों पर विचार करते हुए अनेक लेख लिखे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि 'कामायनी' में भाषा संबंधी त्रुटियाँ निहित हैं, इसके बावजूद भी 'कामायनी' हिन्दी की श्रेष्ठ काव्य कृतियों में गिनी जाती है। यह एक उदात्त काव्य हैं और उदात्त काव्य सर्वथा दोष रहित नहीं होता। 'कामायनी' को लोंजाइनस के इस कथन के आलोक में देखा जा सकता है – "*उत्तम प्रतिभा सर्वथा दोष रहित नहीं होती, क्योंकि पूर्ण शुद्धता का प्रयास तुच्छता में परिणत होता है। जिस प्रकार बहुत वैभवशाली एक-एक वस्तु की खोज-खबर नहीं रख सकता, उसी प्रकार बहुत प्रतिभाशाली भी एक-एक दोष के प्रति सतर्क नहीं रह सकता। संभव है कि सामान्य बुद्धि का व्यक्ति, जो ऊँचे चढने का खतरा उठाना नहीं चाहता, दोषों से मुक्त रह जाये, पर महान प्रतिभाएँ अपनी क्षमता के कारण ही, स्खलन से नहीं बच पातीं। एक प्रवृत्ति यह भी देखी जाती है कि मानवीय प्रयासों के श्लाघ्य पक्षों की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है। दोषों की याद तो अमिट होती है, किंतु गुणों की याद तुरंत मिट जाती है।*" इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रसाद जी ने 'कामायनी' के जरिए ऊँचे चढने का खतरा उठाया है, यही कारण है कि उनकी यह कृति स्खलन से बच नहीं पायी। वास्तव में यह भी सच है कि यदि प्रसाद एक-एक दोष के प्रति सतर्क होकर 'कामायनी' की रचना करते तो शायद ही वह हिंदी के उस उत्तुंग शिखर पर पहुँच पाती, जहाँ वह आज है। प्रसाद अपने युग की संवेदना से पूर्णतः परिचित थे, जिसे उन्होंने कामायनी में ढाला है। इसीलिए कामायनी एक उदात्त रचना के रूप में सामने आती है।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है तो चतुर्वेदी जी काव्य रचना में भाषा के दो स्तर मानते हैं - पहला सामान्य वर्णन की भाषा और दूसरा बिंबों की भाषा। वे काव्य में प्रयोग की जाने वाली भाषा का केन्द्रीय तत्व भावचित्र या बिंबों को मानते हैं। इसके अभाव में काव्य की भाषा सामान्य गद्य की भाषा जैसी लगने लगेगी। जिसके परिणाम स्वरूप काव्य में शिथिलता आने लगती है। बिंब एक प्रकार की वर्णन शैली है जिसके माध्यम से कवि या रचनाकार अपनी ऐन्द्रिय संवेदनाओं को मूर्त रूप प्रदान करते हैं। काव्य को भव्यता और गरिमा प्रदान करने में बिंब अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । इसीलिए डॉ. चतुर्वेदी काव्य की अर्थवत्ता

बिंबों से निर्मित मानते हैं। इस अध्याय में डॉ. चतुर्वेदी जी ने कामायनी के बिंब-भाषा पर विस्तार से विचार करते हुए उसमें प्रतीकों के माध्यम से बिंबों के विकास की प्रक्रिया को उजागर किया है। कामायनी में प्रसाद की बिंब भाषा अधिक विकसित हुई है। इस संदर्भ में डॉ. चतुर्वेदी लिखते हैं कि- "*उसके बिंबों की असाधारण रचना शक्ति में उसकी सामान्य वर्णन भाषा की शिथिलता विलुप्त हो जाती है।*"

'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन' प्रसाद के उन श्लाघ्य पक्षों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है जिन्हें दरकिनार करके उसका विश्लेषण किया जाता रहा है। यह कृति कामायनी को समग्रता में समझने पर बल देती है और प्रसाद के विशिष्ट रचना विधान को प्रकाश में लाती है। साथ ही साथ कामायनी की समझ को बढ़ाने में अपना महत्त्वपूर्ण योग देती है।

**संदर्भ:-**


1. पाण्डेय,प्रो. मैनेजर,P-15. साहित्य का इतिहास दर्शन, M-3.कालजयीपन की अवधारणा और साहित्य का इतिहास,ई-पीजी पाठशाला,पृष्ठ संख्या-2
2. चतुर्वेदी, डॉ. रामस्वरूप, कामायनीका पुनर्मूल्यांकन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, छठा संस्करण :2003,पृष्ठ संख्या-7
3. वही,पृष्ठ संख्या-9
4. वही,पृष्ठ संख्या-10
5. तिवारी, डॉ. भोलानाथ, प्रसाद की कविता,साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करणः1974, पृष्ठ संख्या-133
6. चतुर्वेदी, डॉ. रामस्वरूप, कामायनीका पुनर्मूल्यांकन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, छठा संस्करण :2003,पृष्ठ संख्या– 11
7. प्रेमी, डॉ. गंगाप्रसाद, शर्मा, जगदीश, जयशंकर प्रसाद : एक विशेष अध्ययन, हरिश प्रकाशन मन्दिर, आगरा, नवीन संस्करण, पृष्ठ संख्या-40
8. श्रीवास्तव,परमानंद(सं.), कामायनी का पुनर्पाठ (कामायनी में इतिहास, भगवान सिंह), अभिव्यक्ति प्रकाशन,इलाहाबाद, प्रथम संस्करण :2000, पृष्ठ संख्या-78
9. चतुर्वेदी, डॉ. रामस्वरूप, कामायनीका पुनर्मूल्यांकन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, छठा संस्करण :2003,पृष्ठ संख्या– 11
10. वही पृष्ठ संख्या-9
11. वही,पृष्ठ संख्या-16
12. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी, पृष्ठ संख्या-65
13. चतुर्वेदी, डॉ. रामस्वरूप, कामायनीका पुनर्मूल्यांकन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, छठा संस्करण :2003,पृष्ठ संख्या– 24
14. वही,पृष्ठ संख्या- 24
15. शर्मा, देवेन्द्रनाथ,पाश्चात्य काव्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग कंपनी, नयी दिल्ली, अठारहवां संस्करण : 2019 पृष्ठ संख्या-99
16. चतुर्वेदी, डॉ. रामस्वरूप, कामायनीका पुनर्मूल्यांकन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, छठा संस्करण :2003,पृष्ठ संख्या– 52


...

(कहानी)

# कलंक

प्रवीण कुमार सहगल

सुबह का समय है। रामस्वरूप आंगन में सिर पकड़े बैठे हैं। लज्जा और क्षोभ से सिर झुका है। आंसुओं की लगातार धार से लेई भीगती चली जा रही है। वहीं जमीन पर दोनों बच्चे, एक की उम्र तीन साल, दूसरे की पांच साल, खेल रहे हैं। मां को ढूंढ़ते हुए बार-बार रसोई की तरफ जाते और निराश लौटकर पुनः खेलने लग जाते। जब छोटा बच्चा रोने लगा और पूजा से चुप नहीं हुआ तो वह उसका हाथ पकड़, सहारे से उठाकर पिता के पास ले गयी। रामस्वरूप एक बार सिर ऊपर किये, इन मासूमों को माता के लिए रोते देख और बिलख पड़े। यह वह समय था जब उन्हें गर्म दूध के साथ बिस्कुट, पावरोटी और भरपेट भोजन मिल जाता था। पांच साल की बच्ची पिता को दुःखी, रोते देख कुछ न बोली, किन्तु अंकुर भूख से रो रहा था। अनुराधा इस समय तक दोनों बच्चों को खिला देती थी। रामस्वरूप ने उन्हें प्यार से गले लगा लिया।

पूजा ने मासूमियत से पूछा, “अम्मा कहां है पापा?”

रामस्वरूप कुछ न बोले, आवाज ही न निकलती थी। रोते-रोते घिघ्घी बंध गयी थी। आंखों से अश्रुधारा रूकने का नाम न लेती थी। वह उठे और अलमारी से बिस्कुट लाकर खिलाने लगे। रोते थे और खिलाते थे, पूजा पिता के आंसू पोंछ रही थी। सहसा बाहर से दूधवाले ने आवाज लगाई। झटपट आंखें पोंछकर रसोई से बर्तन लेकर दरवाजे पर जा पहुंचे।

दूधवाला दूध देते हुए, अंदर झांकता हुआ बोला, “आज भाभीजी दिखाई नहीं दे रही हैं, तबीयत तो ठीक है न?” रामस्वरूप को ऐसा गुस्सा आया कि सब्जी काटने वाले चाकू से उसका सीना चीर दे। इन्हीं लालसा और वासना, पिपासायुक्त, नीच लोगों के कारण मेरा घर बर्बाद हो गया, मेरे बच्चे अनाथ हो गये। वह खून का घूंट पीकर रह गया। अंदर आकर दरवाजा बंद कर दिया। रामस्वरूप की लाल-लाल अश्रुसिंचित सूजी आंखें, कपोलों पर सुखे आंसू और उदास, मलिन मुख देखकर दूधवाले को आशंका ने घेर लिया।

रामस्वरूप दूध लेकर अंदर आये और गैस-चूल्हा जलाकर दूध गर्म किया, आटा निकाला और गूंथने लगे। रोते थे और आटा गूंथते थे। कई बूंद आंसू आटे के साथ सन गयीं। उन्हें तो भूख बिल्कुल भी नहीं थी, किन्तु इन बच्चों के लिए रोटी बनाना आवश्यक था। दोनों बच्चे इन्हीं के पास आकर खेल रहे थे, किन्तु खेलने में उनका मन न लगता था। वे कभी इस कमरे में जाते, कभी उस कमरे में, कभी आशा भरी निगाहों से छत पर देखते तो कभी आंगन में, कभी मुख्य दरवाजे पर जाकर उसकी सिटकनी खोलने का असफल प्रयास

करते। शायद उन्हें अम्मा को पड़ोस में जाने का गुमान हो रहा था। उनकी निर्दोष, निश्छल, व्याकुल आंखें हर जगह माता को ढूंढ रही थी। उन्हें क्या पता कि उनके सिर से माता की छत्रछाया उठ गयी और अब इस जीवन में कभी न मिलेगी। नियति इन मासूम बच्चों के साथ कैसा हृदय-विदारक क्रूर मजाक कर चुकी थी।

रामस्वरूप कच्ची, टेढ़ी-मेढ़ी रोटियां पकाते हुए सोच रहे थे-ईश्वर किसी को सुन्दरता का अभिमान और घमण्ड न दे। मैंने अपनी तरफ से कभी किसी चीज की कमी नहीं होने दी। उसकी सारी आवश्यकताओं को पूरा करता गया। मां-बाबूजी जी से लड़-झगड़कर इसे यहां लाया। इसके कहने पर इसे मोबाइल खरीदकर दिया, यही मेरी सबसे बड़ी गलती थी। घर पर रहती तो उनकी देखरेख में रहती, स्वतंत्र छोड़ने का कारनामा भुगत लिया। मैं दिन भर स्कूल में पढ़ाने चला जाता, यह न जाने किस-किस से बात करती रहती थी। एक बार रमुआ ने मुझसे कहा भी था कि भाभी हरिया ड्राइवर से ज्यादा मेल-जोल रख रही है, शायद मोबाईल से बात भी करती है। काश, तभी मैं संभल गया होता, उस पर लगाम कसा होता तो आज यह नौबत न आयी होती। मैंने इसकी ओर से सफाई देते हुए रमुआ को खूब डांटा था। तब मैं न जानता था यह इतनी बदचलन और बेहया निकलेगी। मेरे सामने तो ऐसे रहती थी मानो कहीं की सती-सावित्री हो। गलती मेरी ही थी, देखकर भी नजर अंदाज करता रहा। उसके रूप पर जो फिदा हो गया था।

एकाएक विचारों ने पलटा खाया। उसने आंसुओं को पोंछ लिया। मैं किसके लिए रो रहा हूं, एक नामुराद, बदजात, बदचलन, बेवफा औरत के लिए, जिसे अपने पति और बच्चों की जरा भी परवाह नहीं। जो एक पत्र छोड़ आधी रात को चोरों की तरह अपने आशिक के साथ भाग गयी। बीच-बीच में गुस्सा इतना आता कि इस समय वह सामने आ जाये तो उसका और हरिया ड्राइवर दोनों का खून कर देता। चाहे उसे फांसी ही क्यों न हो जाती। ऐसा लगता था कलेजा मुंह को निकल आएगा। उसने अपने पतलुन की जेब से वह चिट्ठी निकाली और एक बार पुनः पढ़ा। सुबह से इस पत्र को पचासों बार पढ़ चुका है। एक बार तो मन में आया की उस पत्र को जला दे, किन्तु कुछ सोचकर पुनः जेब में रख दिया। वह समझती है कि जिसके साथ वह भागी है, वह उसका जीवन पार लगाएगा, तो वह धोखे में है। महीना दो महीना बाद ही वह ठुकरा देगा, तब कहीं की न रह जाएगी। यहां का दरवाजा अब उसके लिए हमेशा बंद है। कई दिनों से उसका चाल-चलन देख रहा था। छुप-छुप के बातें करते भी देखा था। पूछने पर कहती कि अपने गांव बात कर रही हूं। मुझे क्या पता था कि उसके मन मे ऐसे पाप पल रहे हैं। अभी तक तो इस बात को कोई नहीं जानता, किन्तु जब यहां सबको पता चलेगा तो कितनी बदनामी होगी। अपने गांव में घर वालों को या पड़ोसियों को यह खबर मिलेगी तो कहीं मुंह दिखाने लायक नहीं रह जाऊंगा। मां-बाबूजी अलग बोलेंगे कि यहां से झगड़कर साथ ले गया। अपने घर का काम कौन नहीं करता है? वह भी उसे पहाड़ लग रहा था। वह तो कहती ही थी, तुम

भी उसी का पक्ष लेकर वहां परदेश लेकर गये। नाक कट गयी तो अब भुगतो। आज तक गांव-घर में ऐसा न देखा, न सुना। गांव वालों को इस कलंक का पता चलेगा तो ताने मार-मारकर जीना मुश्किल कर देंगे।

उसने रोटी बनाकर दूध के साथ बच्चों को खिला दिया। बच्चे भूखे थे, खा तो लिया, पर जब पेट भर गया तो मां के लिए रोने लगे। रामस्वरूप ने चुप कराने का लाख प्रयत्न किया, किन्तु जब अंकुर चुप न हुआ तो डांटकर गुस्से में आंगन में बिठाकर अलग हो गया। पूजा भाई को चुप कराने का असफल प्रयास कर रही थी। खुद भी रोती और भाई को चुप कराती। यह डर भी था कि बच्चों की रोने की आवाज सुनकर कहीं कोई पड़ोसन न आ जाये और अनुराधा के बारे में पूछने न लग जाये। इसलिए उन्हें कमरे के अंदर ले जाकर खिलौने और मिठाइयां देकर चुप करा दिया। इन नन्हें बच्चों को छोड़कर स्कूल भी न जा सकूंगा। क्यों न मां-बाबूजी को इसकी सूचना दे दूं। किन्तु नहीं, उन्हें इस मुसीबत में क्यों घसीटूं, उन्हें कितना दुःख होगा। वे दोनों पहले जी भर के मुझे कोसेंगे, फिर चारों तरफ हल्ला मचा  देंगे। चारों तरफ थू-थू होगी, कितनी जग हंसाई होगी, कहीं मुंह दिखाने लायक नहीं रह जाऊंगा। मान लिया न भी कोसेंगे, मेरे साथ सहानुभूति ही करेंगे तो किस मुंह से उनसे यह कहूंगा। इज्जत लौटने से रही, अनुराधा आने से रही। फिर ख्याल आया कि कहीं मकान मालकिन आ गयी और पूछने लगी तो क्या बताऊंगा या स्कूल से ही कोई हाल लेने न आ जाये तो? क्यों न किसी के हाथ चार-पांच दिन की छुट्टी ही लिख भेजूं? यह सोचकर बीमारी का बहाना कर, पांच दिनों की छुट्टी की अर्जी लिखकर पड़ोस में एक छात्र के हाथ में दे आया। घर आकर बाहर का दरवाजा बंद करके अपने मोबाइल से कुछ नंबर निकालकर मिलाने लगा।

वही बच्चे जिनकी किलकारियों, हंसी, बालपन की ठिठोलियों से, भाग-दौड़ तथा खेलने, रोने-गाने, चिल्लाने से सारा घर गूंजा करता, वहीं अब सन्नाटा पसरा रहता। मानों आने वाली दुःखद परिस्थितियों का आगाज करा रहा है। जैसे घर में कोई है ही नहीं। केवल रोने और सिसकने की आवाजें आतीं। कभी बेफिक्री, उन्मादित, हर्षोल्लासित और प्रफुल्लित रहने वाले बच्चे अब उदास, निराश और हताश चुपचाप बैठे रहते हैं। कभी थोड़े समय के लिए हंसने और खेलने भी लगते हैं, किन्तु कुछ देर बाद पुनः अम्मा-अम्मा की रट लगाने लगते। उनकी इस दुरावस्था को देख भला किसके हृदय पर आरे न चलेंगे, किसके चक्षु नम न हो जाएंगे। रामस्वरूप तो फिर भी उनका पिता है। वह कैसे इन परिस्थितियों का सामना कर रहा है, इन दो दिनों से कितना मानसिक और शारीरिक कष्ट झेल रहा है, यह वही जानता है। इन दिनों वह कितना अकेला, कितना दुःखी, कितना लाचार और बेबस है। यह अनकही पीड़ा ज्वाला बनकर अन्दर ही अन्दर उसे जलाए और गलाए जा रही है। उसे अपनी फिक्र न थी, बच्चों की चिंता थी, उनके भविष्य की चिंता थी। उनके दुःख, व्यथा, कुसेवा और अकेलेपन से वह तड़प उठता।

आज तीन दिन हो गये। रामस्वरूप पिता से माता बन गये हैं। उनकी हर एक आवश्यकताओं का ख्याल रखते। उनको नहलाते, कपड़ा धोते, समय पर खाना खिलाते। अब उन्हें आभास होने लगा था कि माता के कर्त्तव्यों का निर्वाह करना सहज नहीं हैं। बच्चों का पालन करना तपस्या करने से भी ज्यादा कठिन काम है। इतना करने पर भी जब वे माता की रट लगाते तो उन्हें गुस्सा आ जाता, वह क्रोधित हो जाते, बालकों को कोसने लगते। इन अभागों की किस्मत में माता का प्यार नहीं लिखा है तो कोई क्या करे? फिर अनुराधा पर गुस्सा निकालते, वह क्या समझती है कि उसके बिना मैं और बच्चे मर जाएंगे। चाहूं तो आज विवाह कर लूं। मेरी हामी भरने की देरी है, किन्तु मैं उसकी तरह बेहया नहीं। पता नहीं क्या देखकर ट्रक ड्राइवर के साथ भागी। मान-अपमान, इज्जत-प्रतिष्ठा का जरा भी ख्याल नहीं किया। वह तो निठल्ला था, इसकी तो अपनी घर-गृहस्थी थी, दो-दो बच्चे थे। इसका कारण मैं ही हूं। मुझे सुन्दर स्त्री चाहिए थी। काली-कलूटी होती तो यह दिन न देखना पड़ता। जिसकी कभी मैं सुंदरता की तारीफ करते नहीं थकता था, सारे नखरे उठाता था, वही नाक कटा गयी। सुन्दर स्त्री इतना बेवफा क्यों होती है? ईश्वर किसी को सुन्दर पत्नी न दे।

इधर-उधर बहुत नम्बर लगाने के बाद तीसरे दिन शाम तक एक नम्बर मिला जिस पर फोन करने पर उधर से जो आवाज आयी, रामस्वरूप उसे पहचान गया। बोला, "इस वक्त तुम कहां और किसके साथ हो, इस तरह आधी रात को चोरों की तरह क्यों भाग गयी?"

उधर से आवाज आयी, "ये तो मैं न बता पाऊंगी।"

"कब आ रही हो?"

"आना होता तो भागती क्यों?"

रामस्वरूप अधीर होकर बोले, "मेरी न सही, क्या तुम्हें बच्चों की भी याद नहीं आती? देखो, माता-माता कहकर कब से पुकार रहे हैं। तीन ही दिन में इनके चेहरे बेरंग हो गये, अनाथों सी हालत हो गयी है। इनकी खुशियां, बालपन, यहां तक की नींद भी उड़ गयी है। ये नींद में भी तुम्हें ही बुलाते हैं।"

"वो मेरे नहीं, आपके बच्चे हैं। आप उन्हें सम्भालो। मुझे अपना जीवन जीने दो। मैं बहुत खुश हूं।"

"इतना कठोर मत बनो अनुराधा। मेरा न सही, इन मासूम बच्चों का ध्यान करो। जिनको देखे बिना तुम एक दिन न रह पाती थी, जिनकी जुदाई असहनीय थी, जिनकी जरा सी पीड़ा तुमसे बर्दाश्त न होती थी, उन्हें इस तरह छोड़ भागीं? वो भी अधम वासना के लिए। सोचो, कितनी बदनामी और बदगुमानी होगी।"

"यह सब बहुत पहले ही सोच लिया था।"

“यह तो बता दो भागी क्यों? तुम्हें मुझमें क्या कमी नजर आयी? इतना बड़ा कदम उठा लिया, मुझे भनक तक न लगी।”

“अगर यही जानना चाहते है तो सुनिये, मेरा दिल हरि पर आ गया, अब क्यों, कब और कैसे आ गया, क्या कारण था, क्या देखकर आ गया? यह तो मैं भी नहीं जानती। सुना था प्रेम उम्र, ऊंच-नीच, जात-पात, अमीरी-गरीबी देखकर नहीं होता। अब प्रत्यक्ष कर रही हूं। इनकी जाति, पेशा और रूप से मुझे कुछ मतलब नहीं, यह आत्माओं का मिलन है। मैं नहीं जानती शादी-शुदा और बच्चों वाली होने के बाद भी कैसे मेरा दिल इन पर आ गया। ये भी मुझसे बेपनाह प्यार करते हैं। शायद हम पहले जन्म के प्रेमी रहे होंगे। हमारे इस मिलन के बीच कोई भी आये यह मुझे पसंद नहीं। यदि तुमने मेरे खिलाफ कोई केस बनाया तो मैं भूल जाऊंगी कि तुम मेरे पति थे और मैं तुम्हीं पर प्रताड़ना, दहेज और ऐसे ही हजारों केस बनाकर तुम्हें और तुम्हारे घरवालों को फंसा दूंगी। अब कुछ मत पूछना, ना कभी फोन करना। मुझे मेरा जीवन जीने दो।” यह कहकर कॉल कट कर दी।

रामस्वरूप को जीवन में इतनी निराशा और हताशा कभी न हुई थी। इतना बड़ा नीच, अधम कृत्य करने के बाद भी कितनी सफाई और निर्भीकता से बात कर रही है। उसकी बातों में जरा भी लज्जा और वेदना का अंश नहीं है, जैसे कोई सुकर्म और प्रशंसनीय काम किया हो। वह क्रोध और निराशा के उस पराकाष्ठा तक पहुंच गये थे, जहां से जीवन की रेखा पतली होकर क्षीण हो जाती है। उन्हें अभी विश्वास था कि ये शब्द उसके अपने नहीं थे। वह दबाव में या क्षणिक वासना और प्रेम के बहाव में अथवा बहकावे या सिखावे में ऐसा कह रही है। नारी का यह रूप उसने पहले कभी नहीं देखा था। अब तक उसे एक विश्वास, एक आस, अंतःमन के किसी कोने में उम्मीद की एक चिंगारी जला रखी थी, किन्तु अनुराधा के इन कटु, शुष्क, निष्ठूर वचनों की आंधी ने उसके हृदय में जलती उस चिंगारी को भी बुझा दिया। वह उस जगह पर खड़ा था, जहां इस घटना के बारे में किसी को बताते शर्म आती है, इज्जत और प्रतिष्ठा दांव  पर लग जाती है। किन्तु वह छुपा भी कितने दिन सकेगा? प्रसूति का पेट भी कहीं छिपता है?

रात के दस बज रहे हैं। दोनों बच्चें अम्मा-अम्मा की रट लगाये अभी-अभी सोये हैं। उनके कपोल आंसुओं से अभी भी गीले हैं। कभी-कभी अचानक नींद से उठकर अम्मा-अम्मा पुकारने लगते हैं, मानों स्वप्न में या स्मृतियों में माता का दर्शन हुआ हो, किन्तु उन्हें न पाकर रोते हुए निराशा में पुनः सो जाते हैं। तीन ही दिन में बच्चों का सुकोमल, प्रफुल्लित शरीर कुम्भला गया है। मां के वियोग ने उनके चेहरे की रंगत और शरीर की स्फूर्ति को छीन सा लिया है। कुछ देर के लिए भूलकर खेलने लगते हैं, किन्तु थोड़ी देर बाद ही अम्मा-अम्मा की रट लगाने लगते हैं। वह उन्हें सारी चीजें  देते, उनकी हर एक आवश्यकताओं का ख्याल रखते

जो अनुराधा उन्हें देती थी, किन्तु न जाने वह कौन सी कमी रह जाती कि वे उसकी रट लगाये ही रहते। उन्होंने सोचा कि एक-दो दिन में माता को भूल जाएंगे, परन्तु अनुराधा के प्रति उनका विरह और तड़प बढ़ता ही जा रहा था। उसे पाने की उत्कंठा और व्याग्रता तेज होती जा रही थी। हताशा और निराशा ने उनकी हालत खराब कर दी थी।

रामस्वरूप कुर्सी पर बैठे चिंता के अथाह सागर में डूबकी लगा रहे हैं। तीन दिन से भोजन का एक कौर भी गले से नीचे नहीं उतारा है। न घर से निकलते, न कहीं आते-जाते, न किसी को अपने यहां आने देते। सारा दिन दरवाजा बंद कर घर के अंदर ही रहते। खुद के नहाने, खाने की सुध तक नहीं रहती। उसी तरह मैले कपड़ों में पड़े रहते। अब तो अब तो चलने में भी कमजोरी का आभास होता था। तीन ही दिन में पहचान में नहीं आते थे। बच्चे बाहर जाकर दूसरे बच्चों के साथ खेलते या दूसरे बच्चे ही यहां आते तो उनका मन बहल जाता, किन्तु ऐसी परिस्थिति में भेद खुलने का डर था। तीन रात में दो तीन घंटे से अधिक कभी न सो पाया। सोते ही अजीब-अजीब सपने आने लगते और वह जाग जाता। अब तक तो वह किसी तरह इस बात को छुपाये हुये था। उसे उम्मीद थी कि अनुराधा आयेगी, वह इतना निष्ठूर नहीं हो सकती। शादी के सात फेरे, वो कसमें, वो वादे, साथ बिताए स्मृतियों को किसी भी हालत में वह विस्मृत नहीं कर पाएगी। किन्तु फोन से जो बात हुई उससे साफ हो गया कि अब वह लौट के आने की दशा में नहीं है। पहले तो उसने सोचा था कि वह आएगी तो सबक सिखाऊंगा, डांटूंगा, मारूंगा, रौब जमाऊंगा और भगा दूंगा। किन्तु जैसे-जैसे उसके आने में देर होता और दिन बीतता जाता उसका यह अभिमान चिंदी होता जाता। अब नौबत यह आ गयी थी कि उसे बुलाने के लिए वह उसके पैरों पर गिरने को तैयार था। इसके लिए दोबारा उसने फोन भी किया था। उसने बहुत मिन्नतें कीं, रोया, गिड़गिडाया, किन्तु प्रेम में अंधी अनुराधा ने उसकी एक नहीं सुनी और दोबारा फोन करने पर पुलिस की धमकी भी दी। एक बार इसके मन में आया कि नहीं आती हो मेरी बला से, अब मैं तुम्हें बुलाने भी नहीं जाऊंगा। दूसरी शादी कर लूंगा। फिर मेरे पास तो सरकारी नौकरी है, जब चाहूं तुमसे से अच्छी पत्नी ला सकता हूं। किन्तु विचारों ने तुरन्त पलटा खाया। यहां और गांव में जो बदनामी होगी उसका क्या करुंगा? शिक्षक की नौकरी, कहीं मुंह दिखाने लायक नहीं रहूंगा। घर वाले ऊपर से ताने देंगे। अब वह समझ गया था कि स्त्री चाहे तो पलभर में पुरुष को जलील कर सकती है, उसकी और उसके खानदान की इज्जत को तार-तार कर सकती है। बार-बार उसकी सोच यहीं आकर ठहर जाती कि बदनामी के इस कलंक से तो मौत अच्छी है। एक ही बार पीड़ा होगी, जीवन भर का कलंक तो न ढोना पड़ेगा, लोगों के जहरीले और हृदयभेदी तानों को न सुनना पड़ेगा। अकथ, असहनीय पीड़ा तो न सहनी पड़ेगी।

वह इन्हीं ख्यालों में खोया था कि पूजा अम्मा-अम्मा करते हुए बांहे फैलाए उठ बैठी। बिजली जल रही थी। कुर्सी से उठकर लाला ने उसे गोद में उठा लिया और प्यार से गले लगाकर पूछा, "क्या हुआ बेटा? कोई सपना देख रही थी?"

बच्ची खुशी में बोली, "अभी अम्मा आयी थी, उन्होंने हाथों में चाकलेट छुपाई हुई थी। एक अंकुर को दी, मुझे देने के लिए बुलाया, मैं दौड़कर गई, किन्तु न जाने वह कहां छुप गयी। कहां है पापा, बताओ न? मुझे अम्मा के पास ले चलो पापा।" यह कहती हुई रोने लगी। रामस्वरूप ने भीगे नयनों से उसे सीने से चिपका लिया।

पूजा फिर बोली, "सुबह अम्मा आएगी न पापा?"

"हां बेटा।"

"चाकलेट लाएगी न?"

"हां, लाएगी।"

उस समय उसे ऐसा लग रहा था कि वो अपना कलेजा निकालकर रख दे। इन बच्चों की खुशी के लिए जो उसे प्राणों से बढ़कर थे, क्या कुछ न कर जाता। अपने शरीर के रक्त की एक-एक बूंद से यदि इन बच्चों की एक पल की खुशियां मोल मिल जाए तो वह कदाचित पीछे न हटता। अपने को दुनिया का सबसे भाग्यवान व्यक्ति समझता। बच्चों का दुःख अब और नहीं देखा जाता। उनकी मूक और प्रगल्भ वेदनाएं उसकी सहन शक्ति की सीमा को पार करती जा रही थीं। उसकी आत्मा के टूकड़े हो रहे थे, हृदय-विदीर्ण हो रहा था। बच्चों की पीड़ा का अनुभव वास्तव में शरीर को कंपा देने वाला, मन और आत्मा को झकझोर देने वाला था। कुछ देर बाद वह उसी तरह कंधे पर सो गयी। उस मासूम को क्या पता कि आज की रात नियति ने उनके साथ कुछ और ही सोच रखा था।

सुबह आठ बजे दूधवाला आया। उसके कई बार आवाज लगाये जाने और दरवाजा पीटने पर जब न कोई जवाब आया और न दरवाजा खुला तो आस-पड़ोस से भी कई लोग आ गये। काफी आवाज लगाने के बाद भी जब दरवाजा न खुला तो किसी अनहोनी की आशंका से किवाड़ के पल्ले निकाल दिये गये। घर के अंदर का दृश्य बेहद दर्दनाक और दिल को दहला देने वाला था। दोनों मासूम बच्चे पंखे की रस्सी से लटक रहे थे। दूसरे कमरे के पंखे से रामस्वरूप लटक रहा था। यह दारूण दृश्य देख कुछ औरतें मूर्छित होकर गिर पड़ीं। किसी पडोसी ने पुलिस को भी खबर कर दी थी। सभी के मन में यही सवाल था कि इतने सुन्दर, कोमल, मासूम, दूध पीते, फूल से बच्चों को एक पिता कैसे फांसी के फंदों पर लटका सकता है? वो भी

अपने ही हाथों से। वही पिता जो उनकी एक खुशी के लिए धरती के अंतिम छोर तक दौड़ लगाने को तैयार रहता था, जो उनकी जरा सी खरोंच पर बिलख जाता था, वे कभी गिरते तो कलेजा मुंह को आ जाता। उनके सुकोमल, नाजुक गर्दन को फांसी के फंदे में कैसे डाल सकता है? इन नवजातों के गले में रस्सी डालते समय हाथ न कांपे होंगे, दिल में हुक न उठी होगी? जिन्हें गोद में लेने को बांहें फैलाये रहता, जिनकी तोतली बोली में पापा शब्द सुनने के लिए कान उतावले रहते, उन्हीं हाथों में इतनी हिम्मत कहां से आ गयी? आंखें कैसे इस करूण दृश्य को देख पायी, कान कैसे अंतर्नाद ध्वनि सुनकर भी खामोश बने रहे कि उन्हें यमराज की गोद तक पहुंचा दिया। लटकाते समय बच्चों के दर्द, चीख और वेदना को कैसे सहन कर पाया होगा? उसकी आंखें अंतिम छवि कैसे देख पायी होगी? दिल को इतना कठोर, निर्मम, निर्दयी और क्रूर कैसे बनाया होगा?

रामस्वरूप की कमीज से मिले पत्र से सारा भेद उजागर हो गया। पत्र में लिखा था, "इन चार दिनों में मैं चालीस बार मरा हूं। प्रेमी का प्रेम और वासना अंधा होता है, यह तो जानता था, किन्तु इस कदर अंधा होगा कि वात्सल्य, ममत्व जैसे महान शब्दों को ठोकर मार दे, संतान के अनमोल प्यार को अनदेखा कर दे, पुत्र-प्रेम जैसे अनमोल रिश्ते का तिरस्कार कर दे, यह पहली बार ही देख रहा हूं। कैसे अपने कलेजे को कठोर करके, फूल जैसे अबोध, नाजुक, दूध मुंहे बच्चे को छोड़कर भाग गयी? इतने दिन साथ रहने के बाद भी पति से नाता कैसे तोड़ गयी? अपने दिल के टूकड़े को, जिसे नौ महीने अपना रक्त पिलाकर पालती रही, कष्ट सहती रही, दर्द से बिलखती रही, उसे क्यों छोड़ भागी? उसके पांव कैसे घर की दहलीज लांघे होंगे? वह मासूम चेहरा जिसकी हर एक अदा पर पत्थर दिल भी पिघल जाए, क्रूर से क्रूर व्यक्ति भी जिसकी मासूमियत के आगे नतमस्तक हो जाए, उनकी तोतली बोली, विनोद और मासूमियत से भरे उनके कारनामे भी उसकी पांवों की बेड़ियां न बन सके? एक बार भी उन बच्चों के भविष्य के बारे में न सोचा। एक गैर मर्द के साथ भाग जाने का जो आजीवन कलंक मेरे दामन पर लगा गई, वो शायद इस जन्म में तो नहीं धूल सकता। मैं भी किसी का बेटा, किसी की आंखों का तारा और दुलारा हूं। मेरे बूढ़े माता-पिता पर क्या गुजरेगी? वे कैसे, किसके सहारे जीवन गुजारेंगे? बुढ़ापे में कौन उनको सहारा देगा? एक शिक्षक होने के नाते समाज में मेरी बहुत इज्जत है। माता-पिता के प्रति भी मुझे अपनी जिम्मेदारियों का अच्छी तरह से अहसास है, किन्तु बच्चों की बेबसी, लाचारी और समाज से मिलने वाले तानों का डर मुझ पर हावी हो गया है। किस-किस के सवालों के जवाब देता रहूंगा। बहुत सोच विचार के बाद ही मैं अपनी जीवनलीला समाप्त कर रहा हूं। मेरे न रहने पर इन अबोध बच्चों का क्या होगा, यह सोचकर इनको भी अपने साथ लिए जा रहा हूं। एक मजबूर और बेबस पिता के द्वारा किये गए इस घृणित कृत्य के लिए मुझे माफ कर देना।" रामसवरूप द्वारा अंतिम समय में लिखे गए इस पत्र को जिसने भी पढ़ा, उसकी आंखें स्वतः ही नम हो गई।

यह सच है कि आदमी अपनों से लड़ लेता है, परायों से लड़ लेता है, किन्तु जहां इज्जत की बात आती है, वह चारों चित पटकनी खा जाता है। दुनिया क्या कहेगी, समाज क्या सोचेगा? वह उस समाज की परवाह करता है, जो उसे भूखे और नंगे देखकर मुंह फेर लेता है। जो पथों के किनारे भूख से बिलखते, मरते देखकर बिना परवाह किये अपने रास्ते चला जाता है। जो सड़क या स्टेशन पर किसी वस्त्रविहिन या चिथड़ों में लिपटी स्त्री, दरिद्र को देखकर रास्ता बदल लेता है या नजरें घूमाकर तेजी से निकल जाता है। उस समाज के ताड़ना और प्रताड़ना के डर से आदमी कितना बड़ा अनर्थ कर देता है। पिता तो वह है जो अपनी संतान के लिए सारी दुनिया से लड़ जाता है। दुनिया की बदनामी के डर से मासूमों के साथ फांसी पर नहीं लटकता। एक बदचलन स्त्री के कुकर्मों का दण्ड इन निरपराध मासूमों को देना कहां का न्याय है? बच्चों के सहारे वो अपनी जिंदगी काट सकता था। जिस समाज के तिरस्कार के डर से वह यह अधम कर्म कर गया, वह कुछ दिनों में इस बात को भूल जाता। उसने जो किया वह कायरता है, लेकिन जो हो चुका था वो वापिस आने वाला नहीं था।

…

(कहानी)

# ईश्वर काका

निशा सहगल

कार का हॉर्न बजा। किसी ने ड्राइविंग सीट से मुंह निकालकर आवाज लगाई, “अरे चौकीदार, दरवाजा खोलना।”

मैंने आराम से उठकर दरवाजा खोला। एक कार भीतर आकर सीधे पार्किंग में जाकर रुकी। मैं धीरे-धीरे चलता हुआ उनकी ओर बढ़ा। कार में से एक युवक और युवती निकले और पीछे की सीट से एक बूढ़ी माता। युवक कुछ बोलता, इसके पहले ही मैंने कहा, “वृद्धाश्रम में आपका स्वागत है, ऑफिस उस तरफ है।”

मैंने गहरी नजरों से तीनों को देखा। यह एक आम नजारा था इस वृद्धाश्रम के लिए। कोई अपना ही अपनों को छोड़ने यहां आता था। सभी चुप थे, पर लड़के के चेहरे पर उदासी भरी चुप्पी थी। लड़की के चेहरे पर गुस्से से भरी चुप्पी थी और बूढ़ी अम्मा के चेहरे पर एक खालीपन की चुप्पी थी। मैं इस चुप्पी को पहचानता था। यह दुनिया की सबसे भयानक चुप्पी होती है। खालीपन का अहसास, सब कुछ होते हुए भी डरावना होता है और अंततः यही अहसास इंसान को मार देता है। तीनों धीरे-धीरे मेरे संग ऑफिस की ओर चल दिए। मैं बूढ़ी अम्मा को देख रहा था। बहुत थकी हुई लग रही थी, उसके हाथ कांप रहे थे। उससे ठीक से चला भी नहीं जा रहा था। अचानक चलते चलते वो लड़खड़ाई तो मैंने उसे झट से सहारा दिया। लड़के ने खामोशी से मेरी ओर देखा। मैंने बूढ़ी अम्मा को सांत्वना दी।

“ठीक है अम्मा। धीरे चलिए, कोई बात नहीं। बस आपका नया घर थोड़ी दूर ही है।” मेरे ये शब्द सुनकर सब रुक से गए। युवती के चेहरे का गुस्सा कुछ और तेज हुआ। लड़के के चेहरे पर कुछ और उदासी फैली और बूढ़ी मां के आंखों से आंसू छलक पड़े। युवती गुर्राकर बोली, “तुम्हें ज्यादा बोलना आता है क्या? चौकीदार हो, चौकीदार ही रहो।” मैंने ऐसे दुनियादार लोग बहुत देखे थे और वैसे भी मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता था। मैं इन जमीनी बातों से बहुत ऊपर आ चुका था। मैंने कहा, “बीबीजी, मैंने कोई गलत बात तो नहीं कही, अब इनका घर तो यही है।”

युवती गुस्से से चिल्लाई, “हमें मत समझाओ कि क्या है और क्या नहीं।” युवक ने उसे शांत रहने को कहा। बूढ़ी अम्मा के चेहरे पर आंसू अब बहती लकीर बन गए थे। शोर सुनकर ऑफिस से भारद्वाज और शान्ति दीदी बाहर आये। उन्होंने पूछा, “क्या बात है ईश्वर, किस बात का शोर है?”

मैंने ने ठहरकर कहा, "जी, कोई बात नहीं, बस ये आये हैं। बूढ़ी अम्मा को लेकर।" युवती फिर भड़क कर बोली, "तुम जैसे छोटे लोगों के मुंह नहीं लगना चाहिए।" भारद्वाज जी सारा मामला समझ गए। उन्होंने शांत स्वर में कहा, "मैडम जी, यहां कोई छोटा नहीं है और न ही प्रसिद्ध कोई बड़ा। यह एक घर है, जहां सभी एक समान रहते हैं और मुझे बड़ी खुशी होती अगर ऐसा ही घर समाज के हर हिस्से में भी रहता।" युवती कसमसाकर चुप हो गयी। युवक ने सभी को भीतर चलने को कहा। जाते-जाते बूढ़ी अम्मा ने मुझे पलटकर देखा। मैंने उसे आंखों ही आंखों में एक अपनत्व भरी सांत्वना दी।

ऑफिस में मैंने बूढ़ी माता के लिए कुर्सी लाकर रख दी। मैं उन सभी को और इस फानी दुनिया के खत्म होते रिश्तों को देखते हुए खुद दरवाजे के पास खड़ा रहा। थोड़ी देर की चुप्पी के बाद युवक धीरे से बोला, "भारद्वाज जी, आपसे कल बात हुई थी, मैं सुमित हूं, यह मेरी मां है। इनके बारे में आपसे बात की थी।" इतना बोलने के बाद वो चुप हो गया। वो असहज सा था। उसका गला रुक-रुक जाता था। मैंने अपने लम्बे जीवन में यह सब बहुत देखा था। मैंने युवती की ओर देखा। वो अभी भी गुस्से में ही थी। बूढ़ी अम्मा अपने बेटे की ओर देख रही थी, इस आशा में कि अब जो होने वाला है, वो नहीं होगा और वो फिर वापिस चल देंगे। लेकिन मैं जानता था, यह नहीं होने वाला था।

मैंने चुपचाप अलमारी से रजिस्टर और रसीद बुक निकाल कर भारद्वाज जी के सामने रख दिया। भारद्वाज जी ने सुमित को वृद्धाश्रम के खर्चे के बारे में बताया। सुमित ने चुपचाप अपने पर्स से रुपये निकालकर दे दिये और जरुरी कागजात पर हस्ताक्षर कर दिए। बूढ़ी अम्मा की आंखों से आंसू बहे जा रहे थे। वो अब भी अपने बेटे को देखी जा रही थी। भारद्वाज जी ने धीरे से कहा, "अब सब ठीक है जी।" यह सुनते ही युवती उठकर खड़ी हो गयी चलने के लिए। बूढ़ी अम्मा ने अपने आंसू पोंछ दिए और युवती से कहा, "बहू, सुमित का ख्याल रखना।" युवती ने कोई जवाब नहीं दिया और बाहर की ओर चल दी। युवक बैठा रहा चुपचाप। फिर उसकी आंखों में से भी आंसू टपक पड़े। बूढ़ी अम्मा ने कहा, "जाने दे बेटा। सब ठीक है। यहां ये सब मेरा ख्याल रखेंगे। तू अपना ख्याल रखना, समय पर खाना खा लिया करना।"

युवक, बूढ़ी औरत के पैरों पर गिर पड़ा और रोने लगा, "मां मुझे माफ कर दे।"

मां बेचारी क्या करती। वो तो है ही ममता की मूरत। उसने उसे उठाया और कहा, "सुमित, कोई बात नहीं मेरे बच्चे, चलो अपना घर बार संभालो, मेरा क्या है, आज हूं, कल नहीं। तू जा। हां, अब कभी मुझसे मिलने मत आना।" युवक अवाक सा चुप खड़ा रहा। यह खामोशी विदाई की थी। यह खामोशी रिश्तों के टूटने की थी। यह खामोशी इंसान की इंसानियत के मरने की भी थी। इतने में दो आवाजें एक साथ आई। उस युवती

की, जो बाहर से चिल्ला रही थी, “अब चलो भी, यहीं नहीं रहना है मुझे” और दूसरी आवाज शान्ति की थी, जिसने बूढ़ी अम्मा को सहारा देकर अन्दर चलने के लिए कहा था।

युवक चुपचाप हार और बेचारगी को अपने चेहरे पर लिए बाहर की ओर चल दिया। बाहर जाते हुए उसने मुझे कुछ रुपये देने चाहे और कहा, “चौकीदार भैया, मां का ख्याल रखना।” मैंने उसके पैसे वापिस लौटाते हुए कहा, “मां का ख्याल तो हम रख लेंगे सुमित बाबू। आप सोचो, आपका मां जैसा ख्याल अब कौन रखेगा और यहां पैसे नहीं प्यार का सौदा होता है।” युवक खामोशी से मुझे देखता रह गया। युवक-युवती कार की ओर चल दिये, बूढ़ी अम्मा शान्ति दीदी के साथ भीतर की ओर चल दी। भारद्वाज जी मुझे देखते हुए अलमारी की ओर चल दिए और मैं फिर से अपनी जगह गेट पर चल दिया।

मेरे लिए यह कहानी लगभग हर महीने की थी। जब कोई न कोई किसी न किसी अपने को यहां छोड़ जाता है। आज की गाथा थोड़ी अलग सी थी। लड़का जिंदगी के पेशोपेश में था, पर कायर था। मैंने मन ही मन गिनती की, अब यहां पचपन लोग हो गए थे। ये वो बूढ़े थे, जिनमें से किसी का कोई नहीं था, इसीलिए वो यहां थे और किसी का हर कोई होते हुए भी यहां था। कोई गरीब था, कोई अमीर था, पर एक बात सब में एक समान थी, वो यह कि सब के सब इस जगह पर अकेले ही बन कर आये और यहां आकर एक दूसरे से मानसिक और भावनात्मक रूप से जुड़ गए। यहां की बात कुछ और है। यहां सबको एक अपनापन मिलता है। घर से अलग होकर भी यहां घर जैसा प्रेम और अपनत्व मिलता है।

मेरा नाम ईश्वर था। पता नहीं मेरी मां ने क्या सोच कर मेरा नाम इतना अच्छा रखा था। जब मैं बीस बरस का था, तब मैं अपनी मां के साथ अपना गांव छोड़कर यहां आया था, तब यह एक छोटा सा हॉस्पिटल था। डॉक्टर कुन्दनलाल नामक सज्जन इस जगह के मालिक थे। इस हॉस्पिटल में मां का इलाज होने लगा और फिर मुझे भी कहीं नौकरी चाहिए थी सो मैं इस हॉस्पिटल का वार्ड बॉय के साथ-साथ चौकीदार और सारे बचे हुए काम करने वाला बन गया था। मां का बहुत इलाज हुआ, उसे टी.बी. थी पर वो बच नहीं सकी। करीब एक साल के बाद वो चल बसी। अब मेरा इस दुनिया में कोई नहीं था, सो मैं यहीं का होकर रह गया। धीरे-धीरे कुन्दनलाल जी का मैं विश्वसनीय बन गया। हॉस्पिटल बड़ा होने लगा, लोग आने लगे। कुन्दनलाल जी का यहां कोई न था जो यहां रह सके। एक अकेला बेटा गौतम था जो कि डॉक्टर बनने की चाह में चंडीगढ़ में एम.बी.बी.एस. कर रहा था। यह उसका आखिरी साल था। कुन्दनलाल जी चाहते थे कि वो यहीं इसी जनता हॉस्पिटल में आकर काम करे, लेकिन उसके इरादे कुछ और थे। वो आगे की पढ़ाई के लिए लन्दन जाना चाहता था और इसी बात पर अक्सर दोनों पिता पुत्र में तेज बातचीत हो जाती थी।

हॉस्पिटल बढ़ रहा था, सस्ता हॉस्पिटल होने की वज़ह से बहुत से गरीब यहां आते थे। कुन्दनलाल जी की पुश्तैनी संपत्ति से यह हॉस्पिटल चल रहा था। मैं हॉस्पिटल का हर काम कर लेता था। सब मुझे पसंद भी करते थे। मैं मेहनती था और मां के गुजरने के बाद हर किसी की सेवा करता था। सभी इसी सेवाभाव से खुश थे। कुन्दनलाल जी मेरा ख्याल रखते थे। मैं उन्हीं के साथ उन्हीं के घर पर रहता था। एक दिन उनके मित्र भारद्वाज जी उनसे मिलने आये। दोनों बहुत सालों के बाद मिले थे। मैंने उनके लिए खाना बनाया। खाने के दौरान भारद्वाज जी ने कुन्दनलाल जी से कहा कि उनकी बहू उनसे ठीक बर्ताव नहीं करती है और वो बहुत दुखी हैं। कुन्दनलाल जी ने बिना सोचे कहा कि वो यहीं आकर रहें और उनके साथ इस हॉस्पिटल की देखभाल करें। भारद्वाज जी को जैसे मन चाहा वरदान मिल गया। वो यहीं रह गए। कुन्दनलाल जी का घर बहुत बड़ा था। मैं उनके लिए खाना बनाता, घर का रखरखाव करता और वहीं रहता। दोपहर में हॉस्पिटल के छोटे-बड़े काम करता। बस जिंदगी कट रही थी। यह हॉस्पिटल एक बहुत बड़े परिवार का अहसास दिलाता रहता था।

मेरे मन में कभी शादी करने का ख्याल भी नहीं आया। काम इतना रहता था कि किन्हीं और बातों के लिए समय ही नहीं मिल पाता था। इतने सारे लोगों की सेवा में मुझे बहुत खुशी मिलती, बदले में मुझे आशीर्वाद और प्रेम ही मिलता। सब ने मुझे हमेशा अपना ही समझा।

समय बीतने के साथ भारद्वाज जी ने उस हॉस्पिटल के पिछले हिस्से में एक वृद्धाश्रम खोला। वहां उन बूढ़े व्यक्तियों के रहने की व्यवस्था की गयी थी, जिनका सबकुछ होकर भी, कहीं कोई नहीं था, कहीं कुछ नहीं था। मैंने धीरे-धीरे ये हिस्सा संभालना सीख लिया। मेरे विनम्र और दयालु स्वभाव की वजह से सब मुझे अपना ही मानने लगे।

एक दिन भारद्वाज का लड़का आया अपनी पत्नी के साथ, जायदाद मांगने के लिए। खूब हंगामा हुआ, भारद्वाज जी ने गुस्से में सारी जायदाद इस वृद्धाश्रम के नाम लिख दी और उसी वक्त से अपने बेटे और बहू से रिश्ता तोड़ लिया। मैं अवाक था। मैंने अक्सर यहां एक घर को टूटते और दूसरे घर को बनते देखा है। कुन्दनलाल जी, भारद्वाज जी और मैं, दीन-दुखियों की सेवा में ही अपना सारा सुख ढूंढ़ते थे। अपनी पढ़ाई पूरी करके कुन्दनलाल जी का लड़का लन्दन जाने की तैयारी के साथ आया और कुन्दनलाल जी को अपना फैसला सुना दिया। कुन्दनलाल जी ने कहा, "ठीक है पढ़ाई पूरी करके वापिस आ जाओ और यह हॉस्पिटल संभालो।" लड़के ने मना कर दिया। लड़के ने खुले रूप से कहा कि वो इन गरीबों के लिए नहीं बना है और न ही वो कभी यहां आना चाहेगा। उसने पिता जी से कहा, "या तो वो उसके साथ चलें या यहीं रहें।" कुन्दनलाल जी अवाक रह गए। उन्होंने कहा, "यह मेरा घर है, ये सभी मेरे अपने लोग। मैं इन्हें छोड़कर कहां

जाऊं, मैं ही इन सबका सहारा हूं।" लड़के कहा, "आपने इन सबका ठेका नहीं लिया हुआ है। मैं आपका अपना बेटा हूं, आपका खून हूं, आपको मेरा साथ देना चाहिए।" कुन्दनलाल जी ने कहा, "डॉक्टर तू बना है, लेकिन सेवाभाव मन में नहीं आया है।"

लड़के ने कहा, "सेवा करने के लिए मैंने पढ़ाई नहीं की है। मैंने एक सुख भरे जीवन की कल्पना की है, जो कि यहां रहने से नहीं मिलेगा। आप मेरे साथ चलिए।" कुन्दनलाल जी नहीं माने। मैं चुप था। भारद्वाज जी भी चुप थे। कुन्दनलाल जी ने उसकी पढ़ाई के लिए पैसों की व्यवस्था कर दी और चुपचाप सोने चले गए। लड़का दूसरे दिन चला गया, अकेला ही बिना अपने पिता को साथ लिये, हमेशा के लिए। कुन्दनलाल जी उसको पैसा भेजते रहे। वो पढ़ता रहा, उसने वहीं लन्दन में अपने साथ काम करने वाली डॉक्टर लड़की से शादी कर ली और फिर बीतते समय के साथ उसे एक बेटा भी पैदा हुआ। उसका नाम कुलदीप था और यह नाम कुन्दनलाल जी ने ही सुझाया था।

फिर वो दिन भी आ ही गया, जिसे मैं कभी भी याद भी नहीं करना चाहता। उस दिन कुन्दनलाल जी का जन्मदिन था। उन्हें सुबह से ही सीने में दर्द था। उनका बेटा गौतम लन्दन से आया हुआ था और वो शाम को मिलने आने वाला था। कुन्दनलाल जी की उससे मिलने की बहुत इच्छा थी, क्योंकि उनका पोता कुलदीप भी साथ आया हुआ था। उन्होंने अब तक उसे नहीं देखा था। हॉस्पिटल में उस दिन कोई नहीं था। हम सब उनके कमरे में थे, मैंने और भारद्वाज जी ने उनके कमरे को सजाया। शाम को करीब एक वकील साहब आये। कुन्दनलाल जी, वकील साहब और भारद्वाज जी के साथ अपनी बैठक में चले गए। करीब एक घंटे बाद वो सब बाहर निकले। कुन्दनलाल जी के चेहरे पर परम संतोष था।

फिर वो इंतजार करने लगे अपने बेटे, बहू और पोते का। मैंने सभी के लिए अच्छा सा खाना बनाया हुआ था और उनके लिए केक भी ले कर आया था। हम सब इंतजार ही कर रहे थे कि अचानक शहर में तेज बारिश होने लगी, बर्फ के ओले भी गिरे और आंधी-तूफान का माहौल हो गया, बिजली भी चली गयी। मैंने और भारद्वाज जी ने मोमबत्ती जलाई। हम इंतजार कर ही रहे थे कि उनका बेटा गौतम अपने परिवार के साथ आये, लेकिन कुछ ही देर बाद उसका फोन आ गया कि वो इस आंधी-तूफान में नहीं आ सकता। यह सुनकर कुन्दनलाल जी का चेहरा बुझ गया। उन्होंने हमें सो जाने को कहा और वापिस अपनी बैठक में जाकर दरवाजा अंदर से बंद कर लिया। हम दोनों चुपचाप थे। रात गहराती जा रही थी। मैंने भारद्वाज जी से कहा कि वो भी सो जाएं। उनके सोने के बहुत देर बाद रात करीब दो बजे मैंने हिम्मत करके कुन्दनलाल जी की बैठक में झांककर देखा, वो चुपचाप बैठे थे। बार-बार वो अपने फोन की ओर देख उठते थे कि शायद

वो बजे और संदेशा आये कि उनका गौतम आ रहा है लेकिन, उसने न बजना था सो न बजा। केक वैसे ही पड़ा रहा। खाना किसी ने भी नहीं खाया।

मैं वहीं बैठक के बाहर बैठे-बैठे सो गया। सुबह-सुबह भारद्वाज जी ने मुझे उठाया। वो और कुन्दनलाल जी दोनों रोज सैर को जाते थे। रात बीत चुकी थी। आंधी-तूफान भी ठहर गया था। मैंने दरवाजा ठकठकाया। दरवाजा अन्दर से बंद था, कोई आवाज नहीं आई, हम दोनों आशंकित हो उठे और जोर-जोर से दरवाजा ठोका। फिर नहीं खुला तो तोड़ दिया। वही हुआ जिसका डर था। कुन्दनलाल जी चल बसे थे। मैं और भारद्वाज जी रोने लगे। इतने में गौतम अपनी पत्नी और कुलदीप के साथ आ पहुंचा। उसे सब कुछ समझते हुए देर नहीं लगी। वो अचानक ही चुप हो गया। भारद्वाज जी ने कहा, "गौतम तुम यहीं बैठो। इतने बड़े इंसान हैं, बहुत से लोग आयेंगे। बहुत सा काम करना होगा, हम सब इंतजाम करते हैं।"

अंतिम संस्कार हुआ, सारे शहर से लोग आये। मुझे भी उस दिन पता चला कि कुन्दनलाल जी की इस शहर में कितनी इज्जत थी। गौतम चुपचाप बैठा रहा, बहू भी चुपचाप ही थी, हां पोता कुलदीप थोड़ा परेशान सा था, विचलित था। उसने दादा को पहले कभी नहीं देखा था और जब देखा तो इस अवस्था में देखा था। वो बार-बार रो उठता था। गौतम चुपचाप इसलिए था कि उसने शहर के लोगों की भीड़ देखी थी और उसे समझ में आ गया था कि उसने क्या खो दिया है? मैं खुद हैरान सा था कि कितने सारे लोग उनसे प्रेम करते थे और कितनों का रो-रोकर बुरा हाल था। सारा क्रियाकर्म निपटने के बाद, रात को हम जब बैठे तो सिर्फ झींगुरो की आवाजें ही सुनाई दे रही थीं। सभी बहुत चुपचाप थे। मैं था, भारद्वाज जी थे और गौतम था। इतने में वकील साहब आये। वो कुन्दनलाल जी के पुराने मित्र थे। उन्होंने कहा, "कल रात को शायद कुन्दनलाल को आशंका हो गयी थी कि वो शायद ज्यादा दिन नहीं रहेगा। उसने अपनी वसीयत करवा ली थी। मैं उसे आप सब को बताना चाहता हूं।"

मैं उठकर खड़ा हो गया। वकील ने मुझे बैठने को कहा। वकील ने कहा, "जायदाद के तीन हिस्से हुए हैं। एक बड़ा हिस्सा इस हॉस्पिटल और वृद्धाश्रम को दिया गया है। दूसरा हिस्सा पोते कुलदीप के लिए दिया गया है और तीसरा हिस्सा चौकीदार ईश्वर के नाम है।" यह सुनकर मैं बहुत जोर से चौंका। मैंने कहा, "साहब, कोई गलती हो गयी होगी, मुझे कोई पैसा रकम नहीं चाहिए। मैं तो यही रहूंगा। सब कुछ मेरा अब यही है। कुन्दनलाल साहब मेरे पिता जैसे थे। उनके बाद अब मेरा कौन है।" कहकर मैं रोने लगा। वकील ने समझाया, "भाई जो उन्होंने कहा, वो मैंने किया, भारद्वाज भी थे वहां। पूछ लो।" मैंने कहा, "मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा हिस्सा भी कुलदीप को ही दे दीजिये।" वकील ने मेरा सिर थपथपाया। मैं चुपचाप आंसू बहाने लगा। गौतम चुपचाप उठकर खड़ा हो गया। उसने कहा, "कल सुबह मिलते हैं, राख को नदी में बहाने जाना है।"

रात बहुत गहरी हो रही थी और मेरी आंखों में नींद नहीं थी। कल तक मैं कुछ भी नहीं था और आज इस जायदाद के एक हिस्से का मालिक। लेकिन मैं इस रुपये का क्या करूंगा, मेरे तो आगे पीछे कोई है ही नहीं। नहीं नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं तो इसी जगह के एक कोने में पड़ा रहूंगा।

सुबह हुई, हम सब वही पास में मौजूद नदी के किनारे चले, रास्ते में शमशान घाट से कुन्दनलाल जी की चिता में से राख ली और नदी में जाकर उसे बहा दिया। मेरी आंखों से आंसू बहने लगे। भारद्वाज भी रोने लगे। उनका सबसे पुराना और गहरा मित्र जो चला गया था। लड़का जो कल तक कुछ नहीं बोला, आज रोने लगा, उसकी पत्नी भी रोने लगी और कुलदीप भी रोने लगा। कुछ देर के शोक के बाद सब वापिस आये। वो अचानक ही बहुत शांत हो गया था, अब उसे समझ आ गया था कि जो उसने खोया था वो कभी भी वापिस नहीं आने वाला था। तेरहवीं के भोज के बाद गौतम मेरे और भारद्वाज के पास आया, उसने उन्हें एक लिफाफा दिया और कहा, "मैं सारी वसीयत, जो पिताजी ने कुलदीप के नाम की है, उसे इस वृद्धाश्रम और ईश्वर को देता हूं। इसके सही हकदार यही दोनों हैं।"

मैं शांत था। मैंने एक बार कहा, "गौतम भैया, अगर यहीं रुक जाते तो हम सभी को बहुत खुशी होती।" गौतम चुपचाप रहा, कुछ नहीं कहा। शायद कुछ कहने के लिए था ही नहीं। दूसरे दिन गौतम वापिस चला गया। शायद हमेशा के लिए। शायद कभी भी वापिस नहीं आने के लिए। मैंने वकील से कहकर सारी जायदाद जो कि मेरे नाम थी, उसे उस वृद्धाश्रम के नाम कर दी। अब चूंकि कुन्दनलाल जी नहीं रहे तो धीरे-धीरे हॉस्पिटल बंद हो गया और फिर कुछ दिनों के बाद सिर्फ, वृद्धाश्रम ही रह गया। भारद्वाज जी सारा काम-काज संभालते और मैं सबकी सेवा करते रहता। मैंने भारद्वाज से वचन लिया कि वो किसी से इस बारे में नहीं कहेंगे कि इस वृद्धाश्रम में मेरा क्या योगदान है। मैंने कहा कि मैं इसी चौकीदार वाले रूप में खुश हूं और मुझे यहीं बने रहने दीजिये। भारद्वाज जी नहीं माने, मैंने फिर उन्हें अपनी कसम दी, वो चुप हो गए। उन्होंने कहा, "बेटा, तू सच में ईश्वर है। भगवान हर किसी को तेरे जैसी ही औलाद दे।"

वृद्धाश्रम चल पड़ा। यहां हर महीने कोई न कोई आ जाता, कोई न कोई गुजर जाता। मैं कई बातों का अभ्यस्त हो चुका था। जिंदगी चल रही थी, एक दूसरे के सुख दुःख बांटते थे, मिलकर काम करते थे। हमने कुछ नर्सें रखी हुई थीं, कुछ लोग रखे हुए थे। सब इस आश्रम की देखभाल करते थे। भारद्वाज जी ने सभी से कह दिया था कि ईश्वर की बात हर कोई माने। बहुत कम लोग मुझे ईश्वर कहकर पुकारते थे। ज्यादातर लोग मुझे सिर्फ चौकीदार ही कहते थे और मुझे इससे कोई शिकायत भी नहीं थी।

कई तरह की कहानियों और किस्सों से भरा हुआ है यह वृद्धाश्रम। आश्रम में बैठी इन बूढ़ी आंखों में कभी जीवन के संघर्षों की कहानी तैरती है तो कभी उस बगिया की कहानी तैरती है जिसे बनाने के लिए इस

बागवान ने अपना पूरा जीवन ही खर्च कर दिया। बावजूद इसके जीवन के अंतिम क्षणों में भी वह एकदम अकेले ही हैं। शायद कोई उनका यह अकेलापन दूर करने वाला होता। अब तो एक दूसरे के साथी ही बनकर यह बुजुर्ग बीत चुकी अपनी जिंदगी के खट्टे मीठे अनुभवों को साझा कर मुस्कुरा भी लेते हैं तो कभी एक दूसरे की आंख पोंछकर ढांढस भी बधांते हैं। लेकिन एक बात यहां बहुत अच्छी है, लोग यहां आकर अपने दुःख भूल जाते हैं और सब एक ही परिवार का हिस्सा बनकर रहते हैं। मेरे परिवार का, हां, यह मेरा ही तो परिवार है एक बड़ा सा भरा हुआ परिवार। मेरा अपना तो कोई है नहीं, लेकिन ये सभी अब मेरे अपनी ही बन गए हैं। यह तो परमात्मा की ही कृपा थी कि कुन्दनलाल जी, भारद्वाज जी और मैं, हम सब की सोच एक जैसी थी और इस सपने को हमने जीवन दिया। यहां हर धर्म के लोग रहते है और यहां हर त्यौहार भी मनाया जाता है। बस जीवन के अंतिम दिनों में सभी खुश रहें यही हम सबकी एक निरंतर कोशिश रहती है। बस एक कमी है, और वो है हॉस्पिटल की सेवाएं, उसके लिए हमें दूसरों पर, दूसरे हॉस्पिटल्स पर निर्भर रहना पड़ता था। अब सभी बूढ़े थे। सो हमेशा कोई न कोई बीमार ही रहता था। अक्सर हमें किसी न किसी को हॉस्पिटल ले जाना पड़ता था। आश्रम के पास एक एम्बुलेंस थी और शांति थोड़ा-बहुत प्राथमिक उपचार कर लेती थी, पर हमेशा ही हॉस्पिटल जाना पड़ जाता था। अक्सर ऐसे मौकों पर एक कसक सी दिल में उठती थी कि काश उस वक्त कुन्दनलाल जी का बेटा गौतम यहां रुक गया होता या पढ़ाई पूरी करके यहीं बस गया होता तो वो हॉस्पिटल कभी भी बंद नहीं होता। खैर विधि का विधान जो भी हो।

आज सुबह मैं थोड़ा जल्दी उठ गया हूं। कुछ अच्छा नहीं लग रहा है। शायद उम्र का असर था। पता नहीं मेरी उम्र कितनी हो गयी है, आजकल कुछ याद भी नहीं रहता। भारद्वाज जी ने आकर मुझे देखा और कहा, "ईश्वर शायद तुम्हारी तबियत खराब है, तुम आराम कर लो।" मैंने कहा, "जी कुछ नहीं, थोड़ी सी हरारत है शायद उम्र थका रही है।"

इतने में एक कार आकर रुकी। हम दोनों ने पलटकर दरवाजे की ओर देखा। कार से अचानक एक आवाज आई, "ईश्वर काका!" मेरे लिए ये एक नया संबोधन था। सब मुझे चौकीदार ही कहकर पुकारते थे। बाहर की दुनिया में किसी को मेरा असली नाम पता नहीं था। हम दोनों ने गौर से देखा। कार का दरवाजा खुला और एक सुखद आश्चर्य की तरह कुन्दनलाल जी का बेटा गौतम, एक नौजवान के साथ उतरा। मुझे बहुत अच्छा लगा, मैंने भारद्वाज जी से कहा, "जरूर यह कुलदीप होगा। कुन्दनलाल जी का पोता।" पास आकर गौतम ने कहा, "हां ईश्वर, यह कुलदीप है।" कुलदीप ने मेरे पास आकर मेरे पैर छुए तो मेरी आंखें छलक गयीं। पहली बार किसी ने मेरे पैर छुए थे। मेरे हाथ कांपते हुए आशीर्वाद देने के लिए उठ गए। कुलदीप ने कहा, "ईश्वर काका, मैं आज आपसे अपने पिता जी की तरफ से माफी मांगने आया हूं और दादाजी का सपना पूरा करने आया हूं।" मेरी आंखें खुशी से बह रही थीं। कुलदीप ने आगे कहा, "मैंने भी डॉक्टरी की

पढ़ाई पूरी कर ली है और अब मैं और पिता जी यहीं रहेंगे और दादा जी का सपना पूरा करेंगे।" मैंने कंपकंपाते स्वर में पूछा, "और मां?"

गौतम ने कहा, "वो नहीं रही। इसी साल उसका देहांत हो गया और मैंने फैसला कर लिया है कि अब हम यहीं आकर रहें। आपने और भारद्वाज अंकल ने जो निस्वार्थ सेवा का बीड़ा उठाया है, अब हम भी उसमें अपना योगदान देंगे। यही सच्चे अर्थों में हमारी वापसी होगी, अपने देश के लिए, अपने पिता के लिए, उनके उद्देश्य के लिए और यही हमारा प्रायश्चित होगा।" इतना कहकर गौतम ने अपनी आंखों से आंसू पोंछे। शान्ति जो इतने देर से पीछे से आकर हमारी बातें सुन रही थी, वो अपने आंसू पोंछते हुए वापिस मुड़कर आश्रम के भीतर गयी और एक पूजा की थाली ले आई। आरती का दीया जलाकर दोनों की आरती उतारते हुए उसने कहा, "पधारो आपणे देश बेटा।" हम सबकी आंखें भीग उठीं।

गौतम ने एक लिफाफा निकालकर मेरे और भारद्वाज जी के हाथों में दिया और कहा, "इसमें मेरी सारी संपत्ति के कागजात हैं। मैंने अपना सब कुछ इस वृद्धाश्रम को दे दिया है और इसकी सारी जिम्मेदारी ईश्वर और भारद्वाज अंकल को सौंपी है, सब कुछ अब इस आश्रम की मिट्टी के लिए।" यह सुनकर मैं रो पड़ा। मेरा दर्द और बढ़ गया और मैं कांपकर गिर पड़ा। कुलदीप ने तुरंत मेरी नब्ज को देखा और कहा, "अरे आपकी नब्ज डूब रही है। जल्दी इन्हें हॉस्पिटल ले चलो।" मैंने कहा, "बस बेटा आज का ही इंतजार था, तुम्हारी वापसी हो गयी और मुझे अब क्या चाहिए? बस अब चलता हूं।" कुलदीप ने कहा, "कुछ नहीं होगा, आपको माइल्ड हार्ट अटैक आया है, सब ठीक हो जायेगा।" भारद्वाज जी ने जल्दी से आश्रम के एम्बुलेंस का इंतजाम किया और मुझे उसमें लिटाकर शहर के एक हार्ट हॉस्पिटल की ओर चल पड़े।

मैंने धीरे से आंखें खोलीं। एम्बुलेंस शहर के एक बड़े हार्ट हॉस्पिटल की ओर जा रही थी। मेरी बगल में भारद्वाज जी, गौतम और कुलदीप बैठे थे। मुझे देखकर कुलदीप ने मेरा हाथ थपथपाया और कहा, "ईश्वर काका, आप चिंता न करे। मैंने हॉस्पिटल में डॉक्टर्स से बात कर ली है, मेरा ही एक दोस्त वहां पर हार्ट सर्जन है, सब ठीक हो जायेगा।" गौतम और भारद्वाज जी ने एक साथ कहा, "हां सब ठीक हो जायेगा।" मैंने भी धीरे से सिर हिलाकर हां का इशारा किया। मुझे यकीन था कि अब सब ठीक हो जायेगा। मैंने फिर आंखें बंद कर लीं। हॉस्पिटल आ गया था। मुझे स्ट्रेचर पर ऑपरेशन थिएटर के भीतर ले जाया जा रहा था। मैंने चारों तरफ सभी को देखा, मुझे खुशी थी। वृद्धाश्रम अब बेहतर हाथों में था। कुन्दनलाल जी का और मेरा सपना सच हो गया था। मैंने सभी को प्रणाम किया और भीतर की ओर चल पड़ा। अब सब ठीक हो गया था। अब कोई दुःख मन में नहीं था और मुझे यकीन था कि मैं भी ठीक हो ही जाऊंगा, फिर से अपने वृद्धाश्रम की सेवा करने के लिए।

(समीक्षा आलेख)

# तितास एक नदी का नाम : समीक्षा

*महेंद्र सिंह*

यह उपन्यास मूल रूप से बंगला में अद्वैत मल्ल्बर्मन द्वारा लिखे गये उपन्यास 'तितास एकटि नदीर नाम' का हिन्दी अनुवाद है। इस शानदार अनुवाद का श्रेय प्रो. चंद्रकला पाण्डेय और जय कौशल को जाता है। समीक्षा से पूर्व इसके अनुवाद के बारे में कुछ बातें रखना चाहूँगा। पुस्तक में बंगाल लोकगीतों का सुंदर और व्यापक प्रयोग किया गया है। पुस्तक के अनुवाद के दरमियान इसके गीतों का भी हिंदी अनुवाद कर दिया गया है, हालाँकि पाद टिप्पणियों के रूप में मूल गीत हूबहू दे दिए गए हैं। अनुवाद कि अपनी सीमाएं और समस्याएं होती हैं। अनूदित लोकगीतों में महज गीत ही अनूदित होकर आये हैं, 'लोक' कहीं खो सा गया है। नए स्वरुप में इन गीतों में न तो प्रवाह है न ही ये गेय है। उन लोकगीतों से लोक का सोंधापन अनुवाद करते ही मर गया है। गीत महज जर्जर शब्दों की जुगलबंदी बनकर रह गए हैं। दूसरी बात यह है कि उपन्यास के अनुवाद में हिंदी पट्टी और हिंदी पाठको को ध्यान में रखते हुए प्रतीक और बिंब भी कुछ जगहों पर बदल दिए गये हैं। पाठकों तक मूल कथा के संप्रेषण के लिए यह एक शानदार प्रयोग हो सकता है किन्तु इससे मूल पाठ की आत्मा बाधित हुई है। यद्यपि ऐसा कम ही जगह देखने को मिला है। अनुवादक-द्वय की सर्वथा कोशिश रही है कि ज़्यादा से ज़्यादा हिंदी के समतुल्य शब्दों को जगह दी जाए ताकि संप्रेषण बाधित न हो। खैर!

बंगाल के 'मालो' जातियों की ग़रीबी, भुखमरी, उस भुखमरी में भी उनकी जिजीविषा, तीज-त्यौहार, संस्कार और आत्मीय संबंधो से भरपूर है यह उपन्यास। चूँकि लेखक स्वयं 'मालो' जाति से सम्बन्ध रखते हैं, अपने समाज को उपन्यास में बड़ी बारीक़ी से जिया है मल्ल्बर्मन जी ने। यह उपन्यास थोड़ी सी 'क्रिएटिव-लिबर्टी' लेते हुए 'मालो' समाज का एक यथार्थ चित्र खींचता है। उपन्यासकार ने अपनों को बचपन में ही भूख और ग़रीबी से दम तोड़ते हुए देखा था। ठीक वैसे ही जैसे उपन्यास का पात्र गौरांग। गौरांग का परिवार कुछ इस तरह वर्णित है मानो लेखक स्वयं अपनी कहानी लिख रहा हो। फिल्मकार 'ऋत्विक घटक' ने इस उपन्यास पर फिल्म बनाते समय लिखा था- *''तितास पूर्वी बंगाल का एक खंड चित्र, एक चलायमान जीवन का सशक्त वर्णन है। पूरे बंगाल में (पूर्वी और पश्चिमी) ऐसा उपन्यास दुर्लभ है। इसमें एक ओर प्रचुर नाटकीय उपादान है। तीव्र गति से घटती दृश्य-घटनाएं हैं और प्राचीन लोक-संगीत के श्रव्य टुकड़े हैं। समग्र रूप से एक सतत् आनंद और अनुभूति प्रवणता है। ऐसा लगता है कि लेखक के भीतर की छटपटाहट वर्षों से बहार आने के लिए बेचैन थी। इसलिए उनके इस उपन्यास में जो आन्तरिकता है, वह अवर्णनीय है। मैंने फिल्म बनाते हुए सभी घटनाओं को अद्वैत की नज़रों से देखने की कोशिश की है। उन्होंने*

*जिस समय तितास को देखा था, तब तितास और उनकी तीरवर्ती ग्रामीण-सभ्यता मरणासन्न थी। मैंने फ़िल्म में मृत्यु के बाद उसके पुनर्जीवन की कल्पना की है। मेरी फिल्म में गाँव नायक है तो तितास नायिका, जो फिर से युवा हो गई है"।*

तितास 'मालो' लोगों के लिए महज एक नदी नहीं है, वह अपने मानवीकृत रूप में हर कदम मछेरों (मछुआरों) के साथ चलती है। भोज हो, व्रत हो, तीज हो, त्यौहार हो, कर्मकांड हो ...सब कुछ, मानो बिन तितास सब सून। विभाजन से पूर्व 'मालो' हिन्दुओं और बंगलादेशी मुसलमानों के मध्य आपसी भाईचारा और सौहार्द इस उपन्यास में खुल कर आया है। बाउल, सूफ़ी और अध्यात्म दोनों सम्प्रदायों के अपने हैं। खान-पान से लेकर तीज-त्यौहार, बोली-भाषा सब समान हैं। ये उनके त्योहारों में शामिल होते हैं वे इनके। जब तितास उतरती है तो उसके तटों पर ये किसान फसल बोते-काटते और जब तितास उफान पर होती है तो किसानो के घर के सामने बहती नदी में हँसते-ठिठोली करते मछेरे मछली मारते हैं। खेतिहरों और मछेरों की संस्कृतियों का यही मिला जुला रूप तितास की आत्मा है। जब तक यह सौहार्द कायम है तितास कायम है या इसे यूँ भी कह लें कि जब तक तितास में जल है यह प्रेम, यह आत्मीयता कायम रहेगी। अंत में जब तितास सूख जाती है तब यही किसान ज़मीन कब्जियाने के लिए कितने की कमज़ोर मछेरों को लाठियों से पीट पीट कर मार देते हैं।

यह उपन्यास चार खण्डों में बंटा है और हर खंड में दो-दो अध्याय हैं। उपन्यास का पहला अध्याय पढ़ते हुए ऐसा लगता है मानो आप उपन्यास नहीं तितास पर लिखा एक लंबा निबंध पढ़ रहे हों। इस अध्याय को पढ़ते हुए उपन्यास में मेरी दिलचस्पी लगभग ख़त्म होते होते बची। कभी लेखक तितास के इस नाम की मनोवैज्ञानिक, सामजिक, मिथकीय और दार्शनिक व्याख्या करता है तो कभी तितास के उदय और विस्तार पर लम्बे उबाऊ भाषण झाड़ने लगता है। इन्ही उबाऊ भाषणों के बीच धीरे से छोटी-छोटी कहानियाँ निकलती हैं जो उपन्यास के लम्बे कथासूत्र का प्रारम्भ करती हैं। लेखक को पता है कि पाठक को कैसे बाँध के रखना है। जब उन लम्बे वर्णनों से मन उचाट होने लगता है तभी लेखक तितास के 'मालो' परिवार की मार्मिक दशा की तरफ पाठक को झाँकने देता है- *"हाड़तोड़ मेहनत के बाद जब एक दिन उसे कुछ नहीं मिला तो वह एक बजबजाते पोखरे में उतर ही गया और अपना जाल उसमे फेंका। तीन चार मेंढक फंसे लेकिन वे भी कूदकर बाहर निकल गये। रह गया सूना जाल और गौरांग की शून्य में ताकती नजरें"*। भूख और ग़रीबी से मरते हुए मानुष का शब्द-चित्र लेखक ने बड़े यत्न से खींचा है। भूख इन्सान की संवेदनशीलता को खा जाती है। मृत्यु कितनी सुखद होती है यह एक ग़रीब बता सकता है और यह कितनी भयावह होती है यह उससे पूछो जिसे कभी फाकाकशी में रातें न गुजारनी पड़ी हों, जिसे भोजन के लिए भटकना न पड़ा हो- *"कितना अच्छा हुआ वह मर गई- वह मन ही मन बुदबुदाया"*। हिंदी साहित्य में प्रेमचंद के पात्र

‘घीसू’ और ‘माधव’ भी ‘बुधिया’ के लिए यही कहते हैं।  भूख व्यक्ति को निष्ठुर बना देती है। गौरांग का बड़ा भाई नित्यानंद, अपनी भूखी उंघती पत्नी और मुंह जोहते बच्चों को देखते-देखते इसका आदी हो जाता है। वह अपनी भी भूख को भूल निश्चल भाव से सारा दिन हुक्का पीता रहता है। और रास्ता भी क्या है, न पानी, मछली, न अन्न…

यह उपन्यास ‘मालो’ समाज की संस्कृति को बड़े सूक्ष्म, सरल और विस्तारित ढंग से प्रस्तुत करता है। जीवन-मरण, विवाह, भोज, प्रथम नौका पूजन, नदी पूजन आदि सभी कुछ विस्तार से मिलता है- *“जन्म के आठवें दिन बाद कलाई की रस्म होनी थी। टोले के अन्य बच्चों के साथ अनंत को भी बुलाया गया। खोई,भुनी मटर, बताशों से उसने भी खोइंछा भर लिया था। तेरहवें दिन अशौच ख़त्म हुआ”।* लोकगीतों की तो इस उपन्यास में भरमार है। ‘मालो’ संस्कृति में हर अवसर के लिए गीत हैं। लेखक ने लोक से गीतों के संकलन में निश्चय की परिश्रम किया होगा। यहाँ महिलायें हर उपलक्ष्य में गीत गाती है तो पुरुष भी कीर्तन और लोकगीतों में रमते हैं। एक झलकी इस प्रकार है-

*देख रानी भाग्यमान*

*रानिर कोलेते नाचे दयाल भगवान*

*नाचरे नाचरे गोपाल*

*खाईयां क्षीर ननि नाचिल बनाईबा दिबो हस्तेर पाचनि*

*एक बार नाच दुई बार नाच*

*तीन बार नाच देखि*

*नचाईले गड़ाइबा दिबो हस्तेर मोहन बांसी*

गीतों के साथ ही साथ लोकोक्तियों का समुचित प्रयोग इस उपन्यास में देखा जा सकता है। लोकोक्तियों का यह प्रयोग इसे बंगाल की माटी से जोड़ता है-

- *“दुर भाग यहाँ से …स्यावणा गाछ के कौए”*
- *“पूत तो कुत्ते का मूत है”*

उपन्यास अंततः त्रासदी के साथ ख़त्म होता है। बासंती उर्फ़ सुबला बऊ तितास एक लोटा जल की अतृप्त इच्छा के साथ नदी के बीचोंबीच खड़ी है। पर नदी में जल का नामोनिशान तक नहीं है। श्वेत रेत चारो

ओर फैली है। बासंती बार-बार दिवास्वप्न देखती है कि वह तितास के शीतल जल में डुबकी लगा रही है। उसे अचानक सारी पुरानी बाते स्मृत हो आती हैं। गुलेरी की सुविख्यात कहानी 'उसने कहा है' की तरह वह 'फ़्लैश बैक' में सुखद अतीत के दिवास्वप्न देखती है। अंततः जिस्म का दिमाग से तालुकात खत्म सा हो जाता है। वह गिर जाती है फिर कभी न उठने के लिए..। और फिर कुछ दिनों बाद बारिश आती है। नदी लबालब भर जाती है मानो फिर से अपने मछेरों को आमंत्रण दे रही हो। लेकिन अब मछेरे नहीं हैं। अब कोई नहीं है। एक नीरव सन्नाटा है चारों ओर ...

यह उपन्यास 'मालो' संस्कृति का एक जीवंत दस्तावेज है। एक उपन्यास के रूप में इसकी सफलता मे कोई संशय नहीं है। विधवा विवाह (पृष्ठ सं-165), सामंतवादी मूल्य, सूदखोरी जैसे तमाम प्रसंग इस उपन्यास में उपस्थित हैं। स्त्री विमर्श और दलित विमर्श की चेतना के आलोक में इस उपन्यास का अध्ययन किया जा सकता है।

पुस्तक- तितास एक नदी का नाम

लेखक- अद्वैत मल्लबर्मन

अनुवादक- चन्द्रकला पाण्डेय, जय कौशल

प्रकाशक- मानव प्रकाशन, कोलकाता

ISBN- 978-93-80332-55-0

...

( शोध आलेख)

## बचपन की सुनहरी यादों का जीवंत दस्तावेज: ‘बाली उमर’

बिश्वजीत कलता

बढ़ती आधुनिकता और शहरीकरण के चलते बच्चों से उनका बचपन छीना जा रहा है। एक बच्चे को जल्दी से जल्दी परिपक्व बनाया जाए उसी होड़ में आज के ‘न्यूक्लियर फेमेली’ के अभिभावक लगे हुए हैं। कोई बच्चा दस साल का हुआ भी नहीं कि उसे नीट, यूपीएससी, जेई आदि परीक्षा की भीड़ में शामिल कर उसकी अल्हडता और बचपन को तिलांजलि दे दी जा रही है। इसी बालपन, गांव और ग्रामीण परिवेश को एक बार फिर अनमोल जी ने इस उपन्यास के माध्यम से उठाया है। भगवंत अनमोल (30.अगस्त.1990 ई) युवा लेखक अपने लेखन में सामाजिक रूप से संवेदनशील विषयों को उठाते हैं। उन्होंने दो प्रेरक पुस्तकें ‘कामयाबी के अनमोल रहस्य’ ‘तुम्हे जीतना ही होगा’ और चार उपन्यास लिखें हैं। जिसमें ‘एक रिश्ता बेनाम सा’, ‘जिंदगी 50-50’, ‘बाली उमर’ और ‘प्रमेय’। उनकी पुस्तक ‘जिंदगी 50-50’ किन्नर जीवन की अनेक पहलुओं को हमारे सामने रखती है। यह उपन्यास एक ओर जहाँ दैनिक जागरण नेल्सन वेस्ट सेलर लिस्ट में कई बार शामिल रहा, वहीँ उसे उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा बालकृष्ण शर्मा नवीन पुरस्कार से भी अलंकृत किया गया। 2021ई. में अनमोल जी का नया उपन्यास ‘प्रमेय’ हिंदी साहित्य में कथ्य और शिल्प की दृष्टि से नवीन प्रयास था। यह विज्ञान, फिक्सन, धर्म और अध्यात्म को एक ही धागे में पिरो कर लिखा गया है। इस उपन्यास के लिए भगवंत अनमोल को ‘साहित्य अकादमी युवा पुरस्कार’ से 2022ई. में सम्मानित किया गया है। लेखन क्रम में उन्होंने ‘बाली उमर'(2019ई.) नाम का उपन्यास लिखा जो सामाजिक रूप से संवेदनशील और महत्वपूर्ण विषय ‘बचपन और गांव’ के परिदृश्य के उपर है।

उपन्यास का पहला अध्याय जिसे भूमिका भी कहा जा सकता है, वहाँ पर अनमोल जी इस उपन्यास के उद्देश्यों को स्पष्ट लिखते हैं –“यह कहानी है, उत्तर भारत के गांवों के हर उस बच्चे की जिसने अपना बचपन गांव में जिया है। हो सकता है, आपने भी ऐसा जीवन जिया हो, हो सकता है न जिया हो, आप शहर में जन्मे हो और वहीं पले बड़े हों। लेकिन अगर आपने गांव का जीवन जिया है तो आपको मैं आसपास के उन किरदारों के पास ले चलता हूँ, जो कभी आपकी जिंदगी का अभिन्न अंग थे, आपको उस दौर की सुनहरी यादों में ले चलता हूँ, जिसे पीछे छोड़ अब शहर चले आए। लेकिन अगर आपने गांव का जीवन नहीं देखा है तो आपको मोबाइल, टेलीफोन और टीवी से कोशों दूर उस मोहल्ले में ले चलता हूँ, जहाँ के ये ऐसे नायक हैं जो जीरो से हीरो बन गए। फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम जब इन तमाम माध्यमों का जन्म ही नहीं हुआ था। उस दौर में पहुँच कर आपको कुछ वैसा ही महसूस होगा जैसे शहर के शोर

शराबे से दूर किसी हिल स्टेशन की सैर करना। तो आइये आपको मिलाता हूँ बाली उमर के उन पांच नायकों से मेरी स्मृति में जिनकी छवि जीरो से हीरो बनने की है।"

लेखक का उद्देश्य स्पष्ट है कि ये उपन्यास आज कल के बच्चें जो इंस्टाग्राम, फेसबुक, वीडियो गेम में ही अपने बचपन को कैद कर लेते हैं उनके लिए और उस वर्ग के लिए है, जिनका बचपन गांव में तो बीता है पर नौकरी या एक बेहतर जिंदगी की तलाश में शहर आ गए। उन्होनें इस उपन्यास में दिखाया है कि बचपन और गांव क्या होते हैं।

बाली उमर उपन्यास गांव के बच्चों की एक ऐसी कहानी हैं जो 1980ई. से 2000ई. के बीच उत्तर भारत के हर गांव के बच्चों की कहानी का प्रतिनिधित्व करती है। लेखक ने इस उपन्यास में पांच बच्चों को पात्रों के रूप में उठाया है जिन्हें वे अपना नायक भी कहते हैं। वे पांच चरित्र है- 'पोस्टमैन', 'खबरीलाल', 'गद्हा', 'आशिक' और 'पागल है'। ये बच्चे हर उस व्यक्ति को अपनी स्मृतियों से जोड़ते हैं जो कभी किसी गांव या छोटे कस्बे में पले बढ़े थे। इन पांच पात्रों से आइये आपका परिचय करवा दूँ।

सबसे पहले आता है पोस्टमैन, जिसका नाम बंटी है। वह प्रेमी प्रेमिकाओं का खत पहुंचाने का काम करता है इसलिए उसे पोस्टमैन के नाम से पुकारा जाता है। वह कुछ बख्शीश लेकर अपने से बड़े लोगों के प्रेम पत्र उनकी प्रेमिकाओं तक पहुंचा देता था। वह आधे रास्ते में इन प्रेम पत्रों को खोलकर पढ़ लेता था और उससे उसे जो नवीन ज्ञान प्राप्त होता था उसी से अपने दोस्तों के आगे अपने आप को सबसे चालाक और तीसमार खाँ समझता था।

दूसरा है खबरीलाल। उसका असली नाम पेट्टर था। उसके पिता दूध बेचते थे, पर वह गांव के हर घर में दूध पहुंचाने का काम करता था। इससे उसे अपने गली-मोहल्ले की हर चीज़ की खबर रहती थी। वो अपने साथियों को ताजातरीन खबरों और नवीन प्रसंगों से परिचित करवाता था।

तीसरा है गद्हा, इसका असली नाम रिंकू था। यह फौजी का बेटा था। वह अपने मित्रों से यानी पोस्टमैन और खबरीलाल से एक कक्षा पीछे पढता था। वह पढ़ने में इतना कमजोर था कि उसे उसके दोस्त गद्हा बुलाते थे। वह अजब-गज़ब सवाल पूछता था और अजीबो गरीब हरकतें भी करता था।

चौथा पात्र आशिक, अनमोल जी इस का परिचय इस प्रकार देते हैं "हर मोहल्ले में एक ऐसा बच्चा जरूर होता है जो बचपन से ही आशिकी गिरी को बखूबी संभाल लेता है।" आशिक का नाम झंडीलाल था। वह गांव के उम्मीदवार प्रधान का लड़का था। वह अपनी कक्षा में मयूरी नाम की लड़की से प्रेम करता था। इसी के चलते उसका नाम आशिक रखा गया है।

'पागल है' पांचवा पात्र , जिसका मूल नाम शायद गोविन्द था। वह कर्नाटक का एक लड़का था, जिसे उसके चाचा ने बेहोश कर ट्रक में डाल दिया और ट्रक वाले ने उसे नवाबगंज के दौलतपुरा गांव में छोड़ दिया। उसके लिए हिंदी

बोलना और समझना बहुत दुष्कर था। गांव वाले उसकी भाषा समझ नहीं पाती थे इसलिए उसे पागल घोषित कर दिया गया था। इस गांव में उसे जीवन व्यतीत करने में कठिन संघर्ष करना पड़ा। अंत में उन चारों दोस्तों की मदद से उसे अपने घर वापस भेज दिया जाता है।

इसके अलावा 'बम्बईया' नाम का एक लड़का गर्मी की छुट्टी में गांव आया था, जो कन्नड़ भी जानता था। उसी ने चार प्रमुख चरित्रों के साथ पागल का संवाद स्थापित किया और उनसे पागल की दोस्ती हो पाई।

उपन्यास की कथा मूलत: नवाबगंज नाम के गांव के दौलतपुरा मोहल्ले और उसमें रहने वाले वहाँ के वाशिंदे की है। इस उपन्यास में बाली उम्र के दौर से गुजर रहे उपरोक्त पांच बच्चों की जिन्हें उनके स्वभाव, अभ्यास, आदतों के अनुकूल नाम दे दिया गया है जो अक्सर गांव में दे दिया जाता है। वे हैं आशिक, खबरीलाल, गदहा, पोस्टमैन और पागल है।

उपन्यास का आरम्भ इन पांच बच्चों की उत्सुकता, नादानी, शरारतों और कार्यकलापों से किया है। जिसे इस प्रकार व्यक्त किया है कि हर पाठक को एक बार उसका बचपन जरूर याद आ जाएगा। चाहे वह पोस्टमैन के स्कूल की कारनामे हो जैसे- वह कैसे साग और अमरूद के माध्यम से मास्टर साहब को उल्लू बनाया था। या चाहे वो स्कूल में हर एक नई लड़की को देख कर एक तरफा प्रेम में पड़ जाना और प्रेम पाने के लिए प्रेमपत्र से लेकर वशीकरण मंत्र तक का उपयोग करना। इसके अलावा बच्चो में सबसे ताकतवर हीरो चुनना, बारात में ठंडई पीना, पड़ोस के यहाँ कोई लड़की आई हो तो उसे इम्प्रेश करना आदि ऐसे कई प्रसंग है जिसे पढ के दुबारा आपको अपना बचपन याद आ जाएगा।

कहानी में हास्य और रोचकता के साथ बच्चों की जिज्ञासा और अनभिज्ञता का भी परिचय देखने को मिलता है। जैसे- अजब तर्कों के जरिये पृथ्वी को गोल नहीं बल्कि चपटा करार दिया जाना, तो कहीँ ब्याह के बाद क्या होता है इस पर बातें करना पाप समझा जाता है। तो बच्चे टेलर की दुल्हन का लेग पीस छप्परों से झांककर देखने का प्रसंग। या फिर गांव में जब नाटक खेला जाता है उसी समय में प्रेमी युगल के करतब को सबके सामने प्रगटित करना आदि प्रसंगो से हसीँ रूकने का नाम नहीं लेती है।

मगर धीरे-धीरे उपन्यास की कहानी गंभीरता की ओर बढ़ने लगती है। कथानक हास्य व्यंग्य के बदले पाठक की मर्म को छूती हुई दिखाई देती है। कथ्य में क्लाइमैक्स आता है और वह भी उस कन्नड बच्चे (पागल है) के द्वारा। वह अपने चरित्र के माध्यम से पाठक को भावूक बना देता है। पूरे गांव वाले उसकी भाषा को न समझकर उसके साथ पागल सा सलूक करते। वह अपने माता पिता से कोसों दूर भूखा प्यासा दिन रात संघर्ष करता है। उसे गांव के लोग खाना देने के बदले मारते थे। वह जीने के लिए मजबुरी में गांव के मुखिया के भैंस भी चराने लगा था। तब भी गांव वाले उसे पागल ही समझते थे। इसी बीच उसे एक लड़की से प्यार हो जाता है या यूं कहें की उसे वो लड़की अच्छी

लगती है। तब वह उस लड़की को हमेशा देखता रहता है, हंसता रहता है, अजीबो गरीब हरकतें करने लगता है यह देखकर गांव वाले उसे और मारने लगते हैं। मार-मार कर उसे एक कमरे में बंद कर देते हैं। फिर बॉम्बे से एक लड़का आता है और उसकी भाषा को समझकर उन चार दोस्तों से उसका दोस्ती बनाता है। और अंत में उन चार लड़कों की मदद से उसे वापस अपने घर कर्नाटक भेजा जाता है। एक तरीके से यह उपन्यास का मूल कथ्य भी कहा जा सकता है जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उस बच्चे का संघर्ष और जीने की प्रेरणा देता है जो पाठक वर्ग को सहज ही बांध लेता है। साथ ही भीषण परिस्थितियों में जीवन जी लेने का अवसर न छोड़ने की सीख भी देने का प्रयास इस उपन्यास में दिखाई देता है। इसे पागल है के संघर्षों से देखा जा सकता है-" खैर, सुबह हुई। सूरज निकला। उसकी नींद खुली। एक बार फिर से एक नयी सुबह उस के लिए नयी चुनौतियाँ लेकर आई थी। जिंदगी इतनी कम उम्र में ही उसकी कठिन परिक्षा लेना चाहती थी। उसे भूख ने फिर जकड लिया था। उठ पाने में मुश्किल हो रही थी। होंठ सुख गए थे जीव तालू से चिपक सी गयी थी। किसी तरह उसने उठने की कोशिश की।"

शैली और शिल्प के स्तर पर भी ये उपन्यास रोचक लगता है। कहानी के आरम्भ में लेखक अपनी शैली के बारे में लिखते हैं-" मेरी एक आदत है, कहानी मैं अपनी शैली में सुनाता हूँ, रोचकता बनाए रखने के लिए कहानी को कभी आगे ले जाऊंगा तो कभी पीछे!" कहानी कहीँ कहीँ पर फ्लैशबैक पद्धति में चलती है कुछ घटनाएं जो आगे की है उन्हें बाद में दिखाया जाता है। जैसे 'पागल है' के पुर्व जीवन को पिछे दिखाया जाना। लेखक ने जहाँ एक ओर कथ्य को 'पागल है' के माध्यम से भावुक और संवेदनात्मक बनाया है, वहीँ दुसरी ओर रोचकता बनाए रखने के लिए हास्य-व्यंग्य शैली का भरपूर उपयोग किया है। जिससे बच्चो को अज्ञानता, नादानी में हँसी का फव्वारा छूट पड़ता है। जैसे- गांव के लोगों को इस वजह से दूरदर्शी बताया जाता है कि वे अपने बच्चों को उनके साइज के नहीं बल्कि बड़े साइज के कपड़े खरीदते हैं, कि उनके बड़े होने पर भी वही कपड़े उनके काम आ सके। तो कहीँ पहली बार किसी शादी में बड़े भोज का आनंद लेने को आतुर गांववाले इसे 'कुकुर भोज' का दर्जा देते दिखाई देते हैं। इसी प्रकार कहीँ इन्हें इतना भोला और सरल दिखाया गया है कि बच्चे पैकेट वाले गुब्बारे यानी कन्डोम को लेकर भ्रमित नजर आते हैं कि आखिर यह वस्तु घृणास्पद क्यों मानी जाती है! तो दूसरी ओर अंग्रेजी अध्यापिका से kiss का मतलब जानने के लिए सवाल पूछते दिखाई पड़ना आदि।

जहाँ व्यंग्य की बात है वह गांव की तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियों और वहाँ के लोगों के ऊपर कटाक्ष है। जहाँ पर सरकारी नौकरी वाले बिना कुछ रिश्वत लिए कुछ काम नहीँ करते उसे एक पुलिसवालों के माध्यम से दिखाया गया है। तो मास्टर जी कैसे साग और अमरुद लेकर बच्चों को पास कराते थे इसे भी दिखाया गया है। तो कहीं गांव के राजनीति में दो प्रधान और उनकी आपसी कस्मकस और प्रतिद्वंदिता पर भी कटाक्ष किया गया है।

भाषा के स्तर पर भी यह उपन्यास ठीक लगता है। बहुत सरल और सहज शब्द और वाक्य बनावट है जिससे गांव के पाठक भी रस ले सकते हैं। जैसे कहानी का एक एक वाक्य कितना सहज होते हुए भी कितना चुस्त और रसीले हैं – "अब आशिक ने अपने पिता जी की जेब से पाँच रुपए निकाले और पाँच पैकेट वाले गुब्बारे खरीद लिए। अब वे चल दिए थे गोविंदा की तरह। आज फिर से उसने लाल वाली शर्ट पहनी थी। आज वह पहली बार अपनी प्रेमिका को गिफ़्ट देने वाले थे। पहली बार वे अपनी प्रेमिका को नज़दीक से कुछ देने जाने वाले थे। आज उनकी खुशी को नापने के लिए किसी यन्त्र की ज़रूरत नहीं थी। वह अपने आप टपक रही थी।" जहाँ एक तरफ हास्य है तो दूसरी तरफ भावूकता से भरा एक एक शब्द जो पाठक के मर्मस्थल को छुकर उसे कथ्य में बान्धे रखता है-" वह भूख और लात-घूंसों की मार खाकर बेहोश पड़ा था। उसे कोई समझने वाला नहीं था क्योंकि उसकी भाषा, उसके वस्त्र पहनने का तरीका भिन्न था। उसके शरीर का रंग भिन्न था। इसलिए उसे एक वक्त की रोटी की जगह लात-घूंसों की मार खानी पड़ी। कहाँ गए थे ईश्वर को पूजने वाले ? कहाँ गए थे हर इन्सान को ईश्वर की औलाद कहने वाले?"

'गदहा को परम ज्ञान प्राप्ति' , 'पोस्टमैन निकला बड़ा खिलाड़ी' आदि अध्यायों के शीर्षकों के नाम भी मजेदार तरिके से लेखक ने दिए है। इन नामों को सुनने के बाद पाठक उस प्रसंग को पढ़ने के लिए मजबूर हो जाता है। बीच-बीच में लेखक क्रिकेट के संदर्भ में राहुल द्रविड़, सचिन आदि का जिक्र भी पाठक को बांधे रखता है।

निष्कर्षत: अनमोल जी का यह उपन्यास वर्तमान समय के लिए अत्यंत जरूरी है। ग्रामीण परिवेश के पाठक एक बार अपने गांव और बचपन की यादों में फिर डूबेंगे और शहरी परिवेश में पले बढ़े पाठकों के लिए यह उपन्यास तत्कालीन ग्रामीण परिवेश को समझने के लिए महत्वपूर्ण साबित होगा। शुरुआत में चरित्र और परिवेश को समझने में कुछ समय लग सकता है। परंतु धीरे धीरे उपन्यास पाठक को अपने साथ बांधता चला जाता है। भाषा और संवेदना के स्तर पर भी यह उपन्यास हर पाठक वर्ग को आकर्षित करेगा। 127 पृष्ठ की यह छोटी सी पुस्तक उनके लिए भी है जो भारी भरकम साहित्य, ज्ञान प्रवचन से पक और थक गए हैं और एक सामान्य मनोरंजक कहानी पढ़ना चाहते हैं। आप इसे पढ़कर निराश नहीं होंगे!!

<u>संदर्भ ग्रंथ-</u>


1. अनमोल, भगवंत, बाली उमर, राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 2019
2. श्रीवास्तव, डॉ. संजय, आधुनिक बाल मनोविज्ञान, हिंदी ग्रंथमाला, दिल्ली, 2018


…


*बिश्वजीत कलता, शोधार्थी, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।*

*सम्पर्क- 8917461954, kaltarilu@gmail.com*

(समीक्षा आलेख)

## गिरीश कर्नाड के नाटक 'नागमंडल' की तात्विक समीक्षा

*संदीप शर्मा*

नाटक साहित्य की अत्यंत प्राचीन विधा है। संस्कृत साहित्य में इसे रुपक के नाम से जाना जाता है। वस्तुतः नाटक एक दृश्य प्रधान रचना है जिसकी सफलता का परीक्षण रंगमंच पर होता है। रंगमंच के बिना नाटक एक अधूरी वस्तु जान पड़ती है। हालांकि रंगमंच युग विशेष की जनरूचि और तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर करता है, यही कारण है कि समय के साथ-साथ नाटक के स्वरुप तथा उसकी संरचना में परिवर्तन देखने को मिलता है। यहां हम इन्हीं नाट्य संवेदनाओं को आधार बनाकर नागमंडल नाटक के तत्वों की समीक्षा करेंगे।

नागमंडल सुप्रसिद्ध अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त नाटककार गिरीश कर्नाड द्वारा रचित एक कन्नड नाटक है। इस नाटक में न केवल एक बल्कि दो-दो, तीन-तीन कथाएं एक दूसरे के समांतर चलती हैं जिसकी विस्तृत चर्चा हम नाटक के कथावस्तु के संदर्भ में करेंगे। किसी भी नाटक का मूल आधार उसकी कथावस्तु होती है। जिसके आधार पर संपूर्ण नाटक का खाका खींचा जा सकता है। नागमंडल नाटक की कथावस्तु संक्षिप्त में इस प्रकार है- जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि इस नाटक की पृष्ठभूमि लोककथाओं पर आधारित है जो कि एक लोक प्रचलित मिथक से प्रभावित है। हम देखते हैं कि प्राचीन भारत अख्यानकों और दंतकथाओं आदि में इच्छाधारी नाग की कपोल-कल्पनाएं बहुत ही लोकप्रिय रही हैं। नागमंडल नाटक का आरंभ एक उजड़े हुए मंदिर से होता है।जहां एक मनुष्य भागते हुए आ पहुंचा है। वह काफी घबराया हुआ है क्योंकि उसे श्राप मिला है कि उसे महीने में कम से कम एक दिन पूरी तरह जागरण करना है नहीं तो वह महीने के अंतिम दिन मर जाएगा। उस मंदिर में कई ज्योतियां शाम के समय इकट्ठा होती हैं। वह मनुष्य को कथा सुनाती हैं, जिससे कि वह रात भर जगा रह सके। कथा इस  प्रकार है, एक लड़की जिसका नाम रानी है उसकी शादी अप्पण्णा नामक एक व्यक्ति से होती है। अप्पण्णा अपनी पत्नी को जरा भी नहीं चाहता क्योंकि वह किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त है। वह जब भी घर से बाहर जाता है, घर पर बाहर से ताला लगा देता है। ताकि रानी बाहरी दुनिया से न मिल सके। अप्पण्णा की एक मौसी जो नाटक में अंधी मां की भूमिका में है वह भी उसी गांव में रहती है। एक दिन वह रानी को कोई जड़ी-बूटी देती है।जिसको कि दूध में मिलाकर पिलाने से अप्पण्णा रानी के करीब आ जाएगा। लेकिन रानी भय के कारण जड़ी मिले दूध को एक नाग के बिल में डाल देती है। जिससे वह नाग रानी के प्रति आसक्त हो जाता है तथा अप्पण्णा के बाहर चले जाने पर वह उसका रूप धारण कर रानी के साथ संबंध स्थापित करता है। जिसके फलस्वरूप रानी गर्भवती हो

जाती है। इधर अप्पण्णा को जब इस बात की ख़बर होती है तो वह रानी के ऊपर चारित्रिक दोषारोपण करता है। जिसके बाद रानी भरी पंचायत में नाग को हाथ में लेकर सत्य करती है और कहती है- "मेरा पति और यह नागराज इन दो के अलावा मैंने किसी और को छुआ तक नहीं। किसी भी पुरुष को मैंने अपना शरीर छूने नहीं दिया यह झूठ हो तो यह नागराज मुझे डस ले और मैं यही मर जाऊं" इतना कहते ही नागराज अपने बॉबी में चला जाता है और लोग करिश्मा-करिश्मा चमत्कार-चमत्कार कह कर चिल्लाने लगते हैं। फिर उसका पति भी उसे देवी मान स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार देखें तो नागमंडल की कहानी अत्यंत रोचक तथा सुगठित है। इसमें शुरू से लेकर अंत तक रोचकता बनी रहती है कि ' अब आगे क्या होगा?' इस प्रकार हम देखें तो गिरीश कर्नाड ने एक कल्पित कथा को लोक से उठाकर रंगमंच तक लाने का जो कार्य किया है वह अत्यंत उल्लेखनीय तथा स्मरणीय है।

किसी नाटक की सफलता बहुत हद तक उसकी पात्र योजना पर निर्भर करती है। पात्र ही कथावस्तु को लेकर आगे बढ़ते हैं। नाटक रंगमंच पर इन्हीं पात्रों के माध्यम से दर्शक तक पहुंचता है। पात्र योजना की दृष्टि से नागमंडल बहुत सीमा तक सफल माना जा सकता है हालांकि इस नाटक में कुछ पात्र अनावश्यक लगते हैं, जिनके बिना भी नाटक को आगे बढ़ाया जा सकता था। मेरे ख्याल से इतनी ज्योतियों की उपस्थिति जरूरी नहीं लगती है। कहानी सुनाने का काम एक या दो ज्योतियों के माध्यम से भी हो सकता था। दूसरा अप्पण्णा की भूमिका एक अच्छे बेटे तक तो ठीक लगती है लेकिन उसका अचानक गायब हो जाना कहानी पर कोई खास असर नहीं डालता। रही बात अंधी मां को पीठ पर लादकर चलाने की तो वह अपने सहारे चल सकती थी जो कि कप्पण्णा के चले जाने पर होता भी है। शायद कप्पण्णा के बिना भी कहानी बढ़ सकती थी। नाटक के अन्य पात्र अपनी भूमिका के साथ पूरा न्याय  करते नजर आते हैं। नाटक की कथावस्तु को ध्यान में रखे तो नागराज ही इसका नायक समझ आता है। अप्पण्णा  की कल्पना खल चरित्र के रूप में हुई है। लेकिन कहानी के खत्म होते-होते उसका भी हृदय परिवर्तन हो जाता है। रानी की भूमिका नाटक की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी दिखाई पड़ती है। जिसके इर्द-गिर्द ही पूरा नाटक घूमता हुआ नजर आता है। इस प्रकार देखें तो कुछ एक छोटी गलतियों के बावजूद पात्र एवं चरित्र चित्रण की दृष्टि से नागमंडल एक सफल नाटक कहा जा सकता है।

संवाद हमेशा कथानक तथा पात्रों के अनुकूल होना चाहिए क्योंकि संवाद नाटक की सफलता में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। संवाद छोटे होने चाहिए या बड़े इसका निश्चित मानक तो नहीं है लेकिन रंगमंच पर अक्सर छोटे संवाद अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। हालांकि एक यह पक्ष भी है कि साहित्यिक नाटकों में कई बार किसी दार्शनिक के विचार या गंभीर बात कहने की लिए बड़े-बड़े संवाद आवश्यक होते हैं। चूंकि नागमंडल एक किस्सागोई के रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसलिए इस नाटक के

आरंभिक कुछ संवाद बहुत बड़े-बड़े बने हैं हालांकि फिर धीरे-धीरे संवाद सामान्य श्रेणी (आकार में) के होते गए हैं।कहीं-कहीं संवाद बेहद नाजुक, उल्लासमय तथा रोमांटिक बन पड़े हैं। एक उदाहरण देखिए जब रानी अप्पण्णा से कहती है,"(चिढ़कर) बंद ही रखी अपना मुंह,कहे देती हूं मैं आपकी पत्नी हूं आप मेरे साथ जैसा भी सलूक करें कोई पूछने ताछने वाला नहीं है पर आपका मेरे मां-बाप के बारे में ऐसी बातें करना मैं बर्दाश्त नहीं कर सकती।धत्त यह कुत्ता भी…"। इस प्रकार नाटक के संवाद अत्यंत प्रभावशाली सरल,सहज एवं स्वाभाविक हैं जो कथानक को गति प्रदान करते हैं।

नाटक लिखे ही इसलिए जाते हैं ताकि उनका मंचन किया जा सके तथा इसके लिए देशकाल तथा वातावरण का ध्यान रखा जाना अत्यंत आवश्यक है। नागमंडल लोककथा पर आधारित नाटक है इसलिए इसमें लोकरंग के तत्व भरपूर मात्रा में देखने को मिलते हैं। साथ ही इसमें मिथक की पद्धति का भी खास ख्याल रखा गया है। इसके अतिरिक्त इस नाटक की जो सबसे विशेष बात है, वह यह है कि इस नाटक की पृष्ठभूमि भले ही मिथकीय कथा जुड़ी है परंतु लेखक ने इसमें नारी शोषण के विरुद्ध भी मजबूत पक्ष रखा है।

किसी भी नाटक के सफल होने का परम आवश्यक तत्व है उसमें अभिनेयता का गुण। कोई भी नाटक तब तक अधूरा माना जाता है जब तक उसका मंचन नहीं हो जाता। असल मायने में नाटक रंगमंच पर ही पूरा होता है। इस हिसाब से नागमंडल नाटक बहुत अधिक  सफल माना जाएगा। नाटककार ने मंचन को आसान बनाने की लिए जगह-जगह रंग संकेत दिए हैं। लेखक ने रंग-सज्जा और क्रिया व्यापार के आवश्यक संकेत भी दिए हैं। परन्तु इसके बावजूद कुछ कमियां भी मुझे नज़र आती हैं, जैसे संवाद का काफी बड़ा होना। एक आध दृश्य जिनका रंगमंच पर मंचन बहुत ही कठिन दिखता है, जैसे नाग का मनुष्य में परिवर्तन, ज्योतियों का बोल पाना, अंधी मां को लादकर चलना। हालांकि आज रंगमंच अत्यंत विकसित अवस्था में हैं तो इस प्रकार की समस्या को बहुत हद तक हल किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखें तो कुछ कमियों को छोड़कर यह नाटक मंच पर पूरी तरह सफल नजर आता है। जो कमियां हैं भी वह बहुत सीमा तक रंग निर्देशक तथा अभिनेता की कुशलता द्वारा कम की जा सकती हैं। न केवल नाटक अपितु किसी भी कृति की अंतिम सफलता उसकी उद्देश्य प्राप्ति में निहित होती है। इस मानक पर हम इसे देखते हैं तो नागमंगल नाटक बहुत हद तक सफल लगता है, मुझे तो लगता ही है। इसके कई कारण हैं-पहला, नाटक लोक तत्वों को लेकर आगे बढ़ता है और बहुत सीमा तक वह लोकरंगों से नाटक को रंगीन बनाए रखता है। दूसरा,यह कि इस नाटक के माध्यम से नाटककार ने स्त्री-पुरुष के दांपत्य जीवन की जिस सच्चाई का उद्घाटन किया है वह वाकई काबिले तारीफ है। तीसरा, नाटक लोक तथा मिथक पर आधारित है लेकिन इसमें नारी शोषण के विरुद्ध में जो आवाज बुलंद की गई है। उसे किसी प्रकार से कमतर नहीं माना जा सकता। चौथा और आखिरी यह कि किसी भी नाटक की रचना के पीछे जो सबसे बड़ा लक्ष्य होता है दर्शक

या सामाजिक का मनोरंजन। इस कसौटी पर तो यह नाटक सौ फ़ीसदी खरा उतरता नजर आता है।' अब क्या होगा?' वाली जिज्ञासा शुरू से अंतिम तक बनी रहती है जो किसी भी कृति की सफलता का सबसे बड़ा मानक है और नागमंडल इसमें सफल है। नाटक तत्वों के आधार पर नागमंडल की विवेचना करने की उपरांत हम कह सकते हैं कि यह नाटक भारतीय साहित्य की एक महत्वपूर्ण कृति है। जिसे गिरीश कर्नाड ने बेहद ही खूबसूरत तथा तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत किया है। यह नाटक कल्पना, मिथक तथा लोक तत्वों के माध्यम से समाज की हकीकत बयां कर रहा है। अंत में निष्कर्ष रूप में हम सौ बात की एक बात यही कह सकते हैं कि गिरीश कर्नाड का यह नाटक अपने कथानक, पात्र-योजना,संवाद, अभिनेयता तथा उद्देश्य आदि हर दृष्टियों से एक सफल नाटक है जो भारतीय साहित्य के विकास में एक प्रस्थान स्थापित करता है।

नागमंडल (हिन्दी संस्करण)

- गिरीश कर्नाड
- वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

…

(ग़ज़ल)

## ग़म के नाम...

कुलदीप सिंह

दुनिया वालो तुम ही बता दो कितना वो ज़ुबान का सच्चा था
किसी तरह मेरे दिल से उतर जाता वो शख़्स तो अच्छा था

जाने क्यों रह रह कर इस ख़राबे में मुझे तेरी याद आती है
तुझे भुलाने की मेरी कोशिशें कामयाब होती तो अच्छा था

बहुत हसरतें लिए आते हैं तिरे दर पे मेरे महबूब मेरे मौला
इक इबादत हमारी भी मुक़म्मल हो जाती तो अच्छा था

दरवाज़े थे सारे बंद उस बीमार की दवा दारू कराता मैं कैसे
ख़ुशी न देता वो मुझे अपने सारे ग़म दे देता तो अच्छा था

अबके बयाबान में है इंसां गर्दिशें-ज़ीस्त के हाल हैं कुछ और
टूट गए हैं बेहिसाब जो उन्हें पनाह मिल जाती तो अच्छा था

दरीचा मुंतजिर था दिल-ए-दहलीज़ पे दस्तक देने
तुम यारो कभी यूँ ही चले आते मेरी ख़बर लेने तो अच्छा था

बिन  तुझ बेरंग है सब मसर्रत-ए-जिन्दगी तिरी सोहबत में है
साथी मेरे यकबार दोस्तदारी निभाने आ जाता  तो अच्छा था

भले दिनन की वो यादें बातें वो हमारी वाबस्तगी वल्लाह गर
दिल  ये मेरा  बेकारी  में  हाय  हाय न  करता  तो अच्छा था

इतना  परेशां था  कि दिले-नादां ने तअल्लुक़ तोड़ दिया ख़ैर
दौर-ए-ग़म-ए-ज़िन्दगी-ओ-जंग  जारी रखता  तो अच्छा  था

हाय ये ईद भी यूँ ही बीत गयी हर बस्ती वाला आहें भरता था
उस रहबर की  ज़माने पे  निगहबानी हो जाती  तो अच्छा था

वाह गुलशन-ए-बहार ये नया रंग - ओ - नयी फ़िज़ा  जाने जाँ
मुबारक हो दिल मेरा भी होता किसी काम का तो अच्छा  था

अजीब रोग लग गया है जो तबियत को मेरी उदास रखता है
ये  वक़्त-ए-सितम  किसी  तरह  गुज़र  जाता  तो अच्छा था

...

(कविता)

# आमिर हमज़ा की कविताएं

## 1. एक अलम-नसीब बेटे की कविता

(अपनी मरहूम माँ के नाम जिसकी मिट्टी में शरीक न हो सकने का मलाल हमेशा मुझे कचोटता है)

एक कवि जिसने धरती पर हलनुमा क़लम से कविता लिखी
रोशनीनुमा क़लम से चन्द्रमा को गिटार में बदला
समंदर को शेर की तरह कोड़ेनुमा क़लम से आकाश के पिंजरे में ला खड़ा किया और
सूरज पर कभी भी किसी भी वक़्त भरोसेनुमा क़लम से लिख सकता था वह कविता
अपनी रगों में क़तरा-ए-ख़ून के दौड़ने तक कहता था—
माँ पर नहीं लिख सकता कविता!

मिट्टी से राख में तब्दील हो दरिया में बहाए जा चुके
अपने इस पूर्वज कवि से कहना चाहता हूँ कि गुस्ताख़ी माफ़ हो मेरी—
धरती पर कोई कविता नहीं लिखी मैंने। चन्द्रमा को भी गिटार में नहीं बदला। समंदर को भी शेर की तरह आकाश के पिंजरे में कभी खड़ा नहीं किया और सूरज पर कभी भी नहीं लिख सकता मैं कविता।
बावजूद इसके रगों में अपनी क़तरा-ए-ख़ून के दौड़ने तक मैं बारम्बार—
माँ पर लिख सकता हूँ कविता!

ताज़िन्दगी करीमतर रहने वाली मेरी माँ
एक मध्यमवर्गीय किसान परिवार में पैदा हुई और

अपने पिता की ज़िद के चलते अपनी बड़ी बहनों की तरह

बीसवीं सदी की आख़िरी दहाई में एक मज़दूर कम कबूतरबाज ज़्यादा पुरुष से ब्याह दी गई।

माज़ी की स्मृतियों के दरीचे की यह गवाही है कि—

यह विरासतों को नेस्तनाबूद करने की नींव रखे जाने का समय था।

यह फ़ज़ा में नारों के गूँजने का समय था।

यह आँगन-ए-नीम और खूँटी पर टंगे छिक्को से बिछड़ने का समय था।

यह अपने अपने घरों को नम आँखों से सदा सदा के लिए अलविदा कहने का समय था।

यह पलायन का समय था।

यह एक मुल्क के हज़ारों-हज़ार लोगों के चेहरों पर डर को पढ़े जाने का समय था।

यह एक मुल्क के लाखों-लाख लोगों के चेहरों पर हँसी को पढ़े जाने का समय था।

यह आँखें मूँदकर आधुनिकता से उत्तराधुनिकता की ओर बढ़ते चले जाने का समय था।

इस सबके बावजूद—

गुड़ मूँगफली दाल सिरका गेहूँ चावल के साथ माँ जब पीहर से अपनी ससुराल आई

तो बाँध लाई चुपके से

अपने पल्लू में गाँव की बड़ी बूढ़ी औरतों के कंठ से फूटता एक विदागीत

जिसे अपने एकांत में वह जब-तब गुनगुनाती रहती—

घर ख़ाली हो जाएगा री लाडो तेरे बिन

तेरे बाबा ने रो रो अँखियाँ लाल करी

री तेरी दादी का मन है उदास री लाडो तेरे बिन

अँगना ख़ाली हो जाएगा री लाडो तेरे बिन

तेरे बापू ने रो रो अँखियाँ लाल करी

री तेरे माँ का मन है उदास री लाडो तेरे बिन....

और फिर एक रोज़ इक्कीसवीं सदी की तीसरी दहाई में—

दिन-ओ-रात मुसलसल पृथ्वी के अपनी धुरी पर मग़रिब से मशरिक़ की ओर घूमते रहने के क्रम में

मंगल पर पानी खोजे जाने के दावे के साथ साथ बहुत से दुनियावी साइंसदान पृथ्वी से दूर कहीं बहुत दूर जब एक नई दुनिया की तलाश में मशगूल थे

बेटी की आस में चार बेटे पैदा करने वाली मेरी माँ—

अपनी उम्र के पैंतालीस साल पूरे करने की दहलीज़ पर खड़ी एक एक साँस के लिए जद्दोजहद करती शहर-ए-चंडीगढ़ के एक अस्पताल में तीन दिन वेंटिलेटर पर रहने के बावजूद गुज़रे हुए साल के माह-ए-मई की एक सुबह मर गई। यह इतिल्ला मुझे फोन पर मेरे भाई के आँसुओं से मिली।

यह पृथ्वी पर—

सैलाब-ए-अश्क का उत्सव था

उजाड़ का मृत्यु का उत्सव था

जहाँ अब इंसान को नहीं सिर्फ़ भाव को अहमियत थी।

अपनी स्मृतियों की दबीज़ चादर पर ज़रा-सा ज़ोर डालूँ तो—

एम्बुलेंस महज़ पचपन हज़ार !

ऑक्सीमटर महज़ तीन हज़ार !

ऑक्सीजन सिलेण्डर महज़ पन्द्रह हज़ार !

ऑक्सीजन बैड महज़ पाँच लाख !

और इंसानियत ! और इंसानियत !

कहते कहते मेरी ज़बान लड़खड़ाने लगती है

अनुपलब्ध !

अनुपलब्ध !

अनुपलब्ध !

माँ!

अपने जीते जी जिसने न कभी कोई पहाड़ देखा

न कोई नदी और न ही कोई समंदर

जबकि—

कितने कितने पहाड़

कितनी कितनी नदियाँ

कितने कितने समंदर से सजी धजी है ये दुनिया।

माँ!

जिसकी ज़िन्दगी खेत से घर और घर से कूड़ी तक

ढोरों के लिए सुबह-ओ-शाम सिर पर चारा और गोबर ढोने से शुरू हुई

और ब्याह के बाद एक मज़दूर कम कबूतरबाज ज़्यादा पुरुष के साथ वक़्त काटते गुज़री

उसके हिस्से इस दुनिया में सिर्फ़—

सिर पर बोझा आया

माथे पर पसीना

हाथ में चिमटा आया

आँखों में धुआँ और

मुक़द्दर में चूल्हा आया।

दरअस्ल कुछ और था ही नहीं माँ के लिए इस दुनिया के पास

अलावा इसके कि वह जहाँ पैदा हुई

जिस मिट्टी में खेली-कूदी पली-बढ़ी

मर जाने के बाद उसी मिट्टी में दफ़ना दी गई

और उग आई एक रोज़ ज़मीन से आसमान की ओर घास की शक्ल में

रक्तपात से भरी इस नफ़रती बदरंग बेईमान जंगी दुनिया को

कुछ हरा करने का इरादा लिए।

...

(साक्षात्कार)

## लीलाधर मंडलोई जी से डॉ मलखान सिंह की बातचीत

समकालीन कविता के बहुपठित - बहुचर्चित कवि लीलाधर मंडलोई जी से डॉ मलखान सिंह की बातचीत का यह अंश कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पहला यह कि मंडलोई जी की काव्य चेतना वैचारिक दुराग्रह की जकड़बंदी से परहेज करती है,दूसरा यह कि उनकी कविता प्रकृति के प्रति अत्यंत सवेदनशील बनाती है। उनका काव्य संसार उदात्त विचारों के साथ विकसित होता है, जिसमें प्रकृति ही सबसे बड़ी प्रेरणा शक्ति है।उनकी कविता शोर नहीं मचाती ,नारेबाजी नहीं करती बल्कि अपने पाठकों से सहृदय मित्र की तरह बातचीत करती है। कुतर्क या जिद्द नहीं करती बल्कि संवाद के द्वारा जीवन की अनंत संभावनाओं की तलाश करती है। अपने पाठकों को अपना मित्र बना लेने वाली कविता के रचयिता हैं –लीलाधार मंडलोई।प्रस्तुत है उनसे बातचीत के कुछ अंश –

☐ अपनी दिल्ली तक की यात्रा के बारे में कुछ बताइए ? कहाँ से ,कैसे ,किन पड़ावों से होते हुए यहाँ तक पहुंचे हैं ?

☐ मेरा जन्म छिंदवाड़ा जिले के गुढ़ी गाँव में हुआ। मेरे माता - पिता होशंगाबाद जिले के रहने वाले थे।जो जीविका की तलाश में यहाँ आकार बस गए थे। कोयला की खदानों मे काम करते थे। नदियों पहाड़ों से घिरे इस इलाके में पेड़ों के नीचे मेरी प्रारम्भिक शिक्षा हुई। आगे की पढ़ाई 11 किलो मीटर दूर स्थित एक मिशन स्कूल में हुई।नदी पार करके रोज पैदल स्कूल जाते थे। तब आवागमन के साधन नहीं थे। एक अनिल बाबू थे, जो गुजराती थे –वे पढ़ने के लिए लगातार प्रोत्साहित करते थे । उच्च शिक्षा के लिए भोपाल में पढ़ने का मौका मिला। वहाँ छात्रवृत्ति मिलती थी इसलिए पढ़ाई पूरी हो गयी। फिर सेंट्रल

स्कूल में नौकरी लग गयी। सतपुड़ा की शृंखला और नर्मदा की धार ने मेरे भीतर के कवि को गढ़ा। इस प्रकार मेरा जीवन ढला।

☐ यानी हम कह सकते हैं कि आपके निर्माण में प्रकृति का सर्वाधिक प्रभाव रहा। इसलिए आपकी कविता में प्रकृति बिम्ब के रूप में ,प्रतीक के रूप में और चेतना के रूप मे सर्वत्र मौजूद है।

☐ इस सृष्टि का सबसे बड़ा कलाकार कौन है –सबसे बड़ा कवि कौन है –सबसे बड़ा शिक्षक कौन है - प्रकृति। स्वाभाविक है उसका प्रभाव सर्वाधिक होगा। आज प्रकृति का संकट सबसे बड़ा संकट है ,इसलिए प्रकृति के प्रति बेचैनी मेरी कविताओं में देखने को मिलती है।

☐ आपकी कवितायें पर्यावरण विमर्श को संवेदना का नया धरातल प्रदान करती हैं ।जब आपको प्रकृति संवेदना कवि कहा जाता है तो आपको कैसा लगता है । आप पर्यावरणीय संकट को किस तरह देखते हैं ?

पर्यावरण का संकट एक वैश्विक संकट है ।इसके प्रति आज सजग नहीं हुए तो फिर कुछ नहीं बचेगा। प्रकृति है तो जीवन है। मेरी कविताओं में पर्यावरण के प्रति बेचैन कवि की छटपटाहट है। वे अपने पाठकों का ध्यान उस मूल भूत समस्या कि ओर आकर्षित करती हैं जो पर्यावरणीय संकट से जुड़ी हैं। पर्यावरण के प्रति संवेदनशील समाज का निर्माण करना आज की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है ।इस उद्देश्य के अनुरूप आज का कवि सृजनरत है। इसलिए जब प्रकृति संवेदना का कवि कहा जाता है तो लिखना पढ़ना सार्थक लगता है।

☐ क्या कभी स्कूल में आपके साथ भी जाति के आधार पर भेदभाव किया जाता था ?

☐ जाति के आधार पर भेदभाव आज भी होता है। अगर ऐसा न होता अंबेडकर जैसे लोगों को क्लास के आधार पर होने वाले अन्याय के खिलाफ क्यों लिखना पड़ता ।क्लास में झाड़ू लगाना ।पानी भरकर नदी से लाना। ये सब काम सामान्य बच्चों से नहीं कराया जाता था , जो निम्न वर्ग से संबन्धित थे, वही करते थे। मैंने साइंस छोड़ दिया क्यों कि एक टीचर वाजपेयी जी थे वे मुझसे बहुत चिढ़ते थे। मेरे सही उत्तर देने पर भी मुझे मारते थे। तंग आकार मैंने साइंस छोड़ दिया।जो शोषित होता है उसमे प्रतिरोध का गुण अनिवार्य रूप से मिलता है। यह प्रतिरोध ही आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। इसका प्रभाव बहुत ज्यादा पड़ता है कि तुम मुझे जाति के आधार पर हराते हो तो मैं तुम्हें पढ़ाई मे हराऊंगा ।जिसमे यह भावना प्रबल होती है वही आगे निकाल जाता है। मैं लगातार अपनी कक्षा मे प्रथम आता रहा।

☐ पहली कविता कब और किन स्थातियों में लिखी।

☐ आपके भीतर जो एक नैसर्गिक क्रोध होता वही कविता बनकर फूटता है ।समाज में जो जातिगत भेदभाव था – अन्याय था ,उसके विरुद्ध जो आक्रोश था वही कविता बन गया ।लिखना तो मैं 1975 से शुरू कर दिया था लेकिन पहला संग्रह 1990 में छपा। 1980 में लहर पत्रिका के कविता विशेषांक में मेरी पहली कविता छपी थी । वह कविता है ---

*धरती मैं तुझे बच्चेकी तरह गोद में उठाकर*

*चूमना चाहता हूँ तुम्हारी दुखती रगों को*

*सदियों से घूमते घूमते कितनी थक गयी होगी तुम*

*मैं तुम्हें एक पल की झपकी के लिए सुलाना चाहता हूँ ।*

☐ प्रारम्भ में आप किस कवि से सर्वाधिक प्रभावित रहे ?

☐ लोक साहित्य में ईसुरी ,मध्यकाल में कबीर और तुलसी से, आधुनिक काल में नागार्जुन से प्रभावित रहा । हमारी परवरिश आपातकाल के वातावरण में हुई ।उस समय के जो नायक थे उनका भी प्रभाव पड़ा । आज के युवा कवियों में अनुज लुगुन ,मोहन डहेरिया ,नीलेश रघुवंशी ,आशुतोष ,कुमार अंबुज आदि हैं।

☐ आप पर वैचारिक रंग किसका ज्यादा चढ़ा ।

☐ मैं जिस दुनिया से आया उसमे जो चेतना बनी उसे कई बार विचार धारा मान लिया जाता है जब कि ऐसा नहीं है । मुझमे कबीर, अंबेडकर ,फुले,तुकाराम का प्रभाव ज्यादा रहा । जहां तक रंग की बात है तो मुझमे जो भी रंग हैं, रेखाएँ हैं ,कहन है उन सबमे सिर्फ लोक का रंग ज्यादा है ।

☐ आपके अनुसार कविता क्या है ? क्या कलात्मक अहं की तुष्टि है या वैचारिक हथियार है या कुछ और ?

☐ प्रथमतः और अंततः कविता आपके भीतर के संसार को अभिव्यक्त करने का साधन मात्र है । जैसी आपकी परवरिश होती है ,उसके हिसाब से आपका सौंदर्यबोध ,आपकी वैचारिकता अपने आप बनती चली जाती है । प्रथमतः और अंततः कविता एक प्रक्रिया से बनती है किसी विचारधारा से नहीं । इस प्रकार अपने आपको अभिव्यक्त करने का माध्यम है कविता । उससे दो तरह की तुष्टि होती है एक यह कि आपके भीतर जो चीजें आकार ले रही हैं वो कागज पर आकर जब हम उसकी कविता के रूप मे या गद्य के रूप में पुनर्रचना करते हैं तो उसका परिष्कार होता है ।

☐ आज कविता के सामने सबसे बड़ा संकट क्या है ?

☐ कविता के सामने नहीं ,कवि के सामने संकट है , वह उस चीज को समझ ही नहीं पा रहा कि संकट क्या है।

☐ क्या आप भी मानते हैं की कविता का जीवन संकट में है ?

☐ यह बात पुरानी हो गयी ,आज कविता की पहुँच बढ़ी है। डिजिटल प्लेटफार्म ने कविता को नया जीवन दे दिया है।

☐ समकालीन कविता का वैशिष्ट्य क्या है और कमजोरी क्या मानते है ?

☐ समकालीन कविता में कथ्य के स्तर पर सबसे महत्वपूर्ण जीवन और समाज है।जो दृश्य में दिख रहा है उसे अंतिम सत्य मानना समकालीन कविता की कमजोरी है। सत्य कई पर्त के पीछे छिपा है उस तक पहुंचना समकालीन कविता की सबसे बड़ी चुनौती है।

☐ समकालीन कविता का संसार कैसा है ?

☐ समकालीन कविता के केंद्र में सम्पूर्ण सृष्टि की चिंता है। वह प्रकृति के प्रति अत्यंत संवेदनशील बनाने वाली दुनिया है। यद्पि वह  सत्य को पकड़ ना पाने की बेचैनी से भरा हुआ काव्य संसार है।

इस बेचैनी को मेरी  एक कविता ‘ लिखे में रंग’ पर देख सकते हैं  –

*क्या मेरे लिखे मे रंग आ सकते हैं*

*रंगों के भीतर के रंग*

*छायाओं के भीतर की छायाएं*

*बर्फ के भीतर का आकाश रंग*

*मैं किस चित्रकार के पास जाऊँ*

*उन रंगों को शब्द रंगों में लाने के लिए*

☐ आप काव्य सृजन में क्या सावधानी बरतते हैं और नये रचनाकारों को क्या सावधानी बरतने को कहेंगें ?

☐ पहला यह कि आपका लेखन सत्य के करीब होना चाहिए,दूसरा यह कि उसमे कहनका गुण है कि नहीं।

☐ आपके अनुसारविमर्शवादी साहित्य की बड़ी उपलब्धि क्या है ? उसका कमजोर पक्ष क्या हैं ?

☐ विमर्श शब्द ही हमारा नहीं है ,हमारी परंपरा विचारविमर्श की रही है ,जिसमें शास्त्रार्थ होता था किसी सच की परिणति को प्राप्त करते थे। आज का विमर्श सिर्फ कलह करता है किसी निष्कर्ष तक नहीं ले जाता। स्त्री को आजादी किससे चाहिए।

☐ दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श में अलगाव क्यों है ?

☐ आदिवासी विमर्श अपनी पहचान को बचाने का विमर्श है।आदिवासियों की सबसे बड़ी चिंता अपनी भाषा और संस्कृति की है, जो कि दलितों के यहाँ गौड़ है। आदिवासी विमर्श के केंद्र में सम्पूर्ण सृष्टि की चिंता है। आदिवासियों के यहाँ केवल आर्थिक सवाल नहीं है बल्कि सांस्कृतिक सवाल भी है। आदिवासी अपने अस्तित्व को बचाने की लड़ाई लड़ रहे हैं ,जबकि दलित ,दलित के रूप में अपने अस्तित्व को खत्म करने की लड़ाई लड़ रहे हैं। आज दुनिया के बड़े-बड़े पर्यावरणविद आदिवासी चिंतन को अपना रहे हैं।

☐ इतने उतार -चढ़ाव , संघर्ष के बाद साहित्यिक दुनिया के इस उच्च मुकाम में पहुँचकर आपको कैसा लग रहा है ?

☐ बहुत अच्छा लग रहा है।बहुत आशावान हूँ। अभी उम्मीदें बाकी हैं।

☐ धन्यवाद सर !

संप्रति :

- डॉ मलखान सिंह सहायक प्रोफेसर ,वार्डेन फ्लैट 2 लोहित हॉस्टल जे एन यू नई दिल्ली मोब-9990765648 ,
- ई मेल –malkhan1979@gmail.com
- लीलाधार मंडलोई –वरिष्ठ कवि